विवेक-ज्योति

वर्ष ३८, अंक २   फरवरी २०००   मूल्य रु. ५.००

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (म. प्र.)
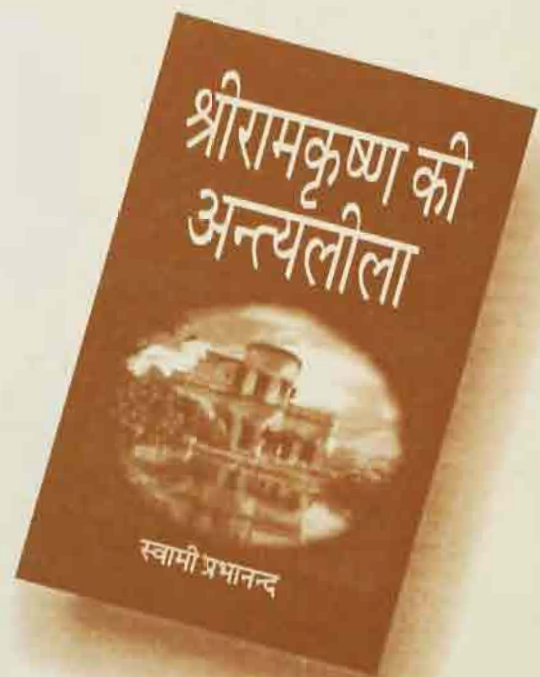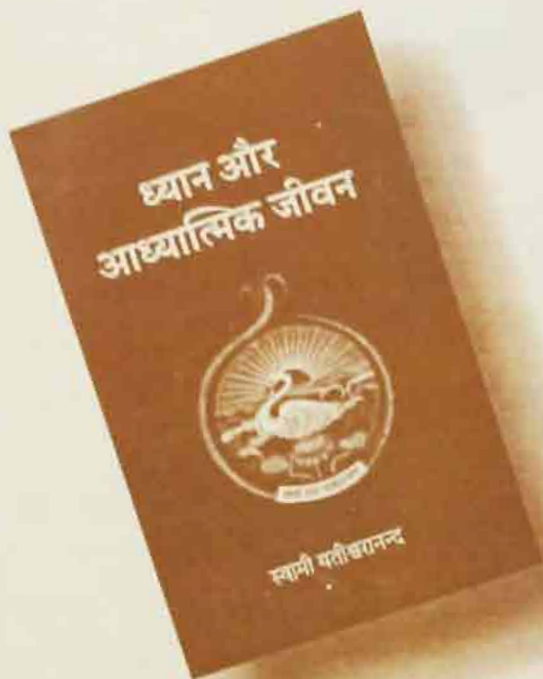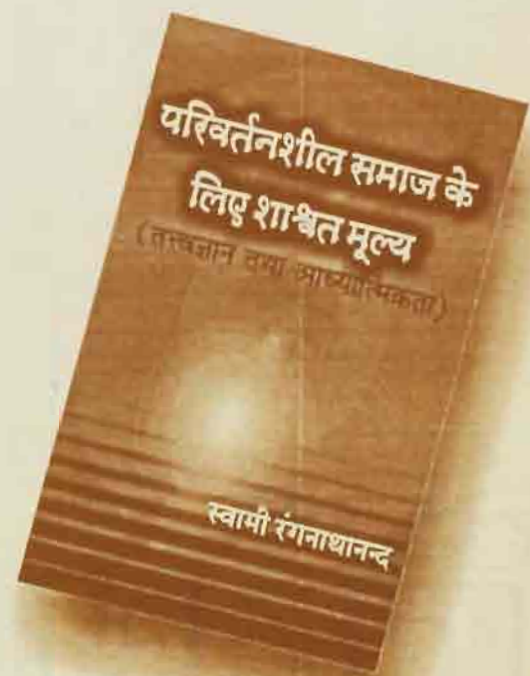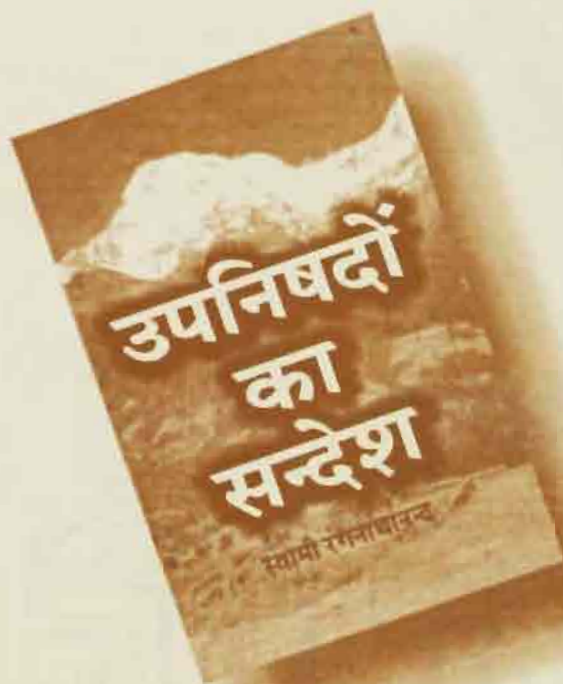
॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित
हिन्दी मासिक

फरवरी, २०००

प्रबन्ध-सम्पादक
स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक
स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ३८
अंक २

वार्षिक ५०/- एक प्रति ५/-

आजीवन सदस्य ता शुल्क (२५ वर्षों के लिए) ७००/-

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर - ४९२ ००१ (म. प्र.)

दूरभाष : २२५२६९, ५४४९५९, २२४११९

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ५४६६०३)

विवेक-ज्योति के आजीवन सदस्य

(ग्यारहवीं तालिका)

४२१. श्री मन्नालाल अग्रवाल, लिंक रोड, मुम्बई (महाराष्ट्र)
४२२. श्री बी. एल. गुप्ता, सदर बाजार, धार (म.प्र.)
४२३. श्री सुधांशु भूषण चक्रवर्ती, पुष्पा नगर, इन्दौर (म.प्र.)
४२४. श्री टी. एस. उबरहण्डे, रामनगर, बुलढाणा (महाराष्ट्र)
४२५. श्री सुनील कुमार गहड़वाल, स्टेशन रोड, खण्डवा (म.प्र.)
४२६. श्री आर. डी. एस. कश्यप, चौबे कॉलोनी, रायपुर (म.प्र.)
४२७. श्री माखन सिंह चौहान, सरदारपुरा, उज्जैन (म.प्र.)
४२८. श्री उमेश गुप्ता, मालीपुरा, उज्जैन (म.प्र.)
४२९. श्री एम. एल. बाँते, जीवनछाया कॉ., अमरावती (महा.)
४३०. श्री के. एम. आडवानी, सुदर्शन नगर, अमरावती (महा.)
४३१. सुश्री किशोरी दुदलवार, बालाजी नगर, अमरावती (महा.)
४३२. श्री दामोदर लखानी, मलकापुर, बुलढाणा (महाराष्ट्र)
४३३. श्री भरत एम. रातेश्वर, मलाड, मुम्बई (महाराष्ट्र)
४३४. श्री बी. एस. गुप्ता, पद्मनाभपुर, दुर्ग (म.प्र.)
४३५. डॉ. रश्मि झा, शिवाजी नगर, भोपाल (म.प्र.)
४३६. वैद्य श्री एम. डी. शर्मा, नन्दिनी रोड, भिलाई (म.प्र.)
४३७. श्री अचलेश कुमार झा, कुशालपुर, रायपुर (म.प्र.)
४३८. श्री तेजराम नायक, मनोरमा कॉलोनी, सागर (म.प्र.)
४३९. सुश्री श्रेया मेहता, शंकर नगर, रायपुर (म.प्र.)
४४०. श्री एस. एम. देशपाण्डे, न्यू हुबली (कर्नाटक)
४४१. श्री रामअवतार दीक्षित, गाँधी नगर, कानपुर (उ.प्र.)
४४२. श्री टी. आर. केवट, म.प्र. विद्युत म., दन्तेवाड़ा (म.प्र.)
४४३. श्री एल. सी. पण्ड्या, यूनीवर्सिटी रोड, पाटन (गुजरात)
४४४. श्री रिषी शेखर राम पिल्लै, शंकर नगर, रायपुर (म.प्र.)
४४५. श्री रामजी गुप्ता, कोदवाबानी, मुंगेली, बिलासपुर (म.प्र.)
४४६. श्री राजेश तिवारी, मांढर कॉलोनी, रायपुर (म.प्र.)
४४७. महावीर बाल पुस्तकालय, चन्दावल नगर, पाली (राज.)
४४८. श्री अमल कुमार बैनर्जी, पद्मनाभपुर, दुर्ग (म.प्र.)
४४९. श्री हनुमान प्रसाद थवाइत, विधानगर, बिलासपुर (म.प्र.)
४५०. श्री हिमाचल मढ़रिया, पद्मनगर, भिलाई (म.प्र.)
४५१. श्री सी. आर. चौधरी, मोतीलाल नेहरू नगर, दुर्ग (म.प्र.)
४५२. श्री एम. पी. चौरसिया, शान्तिनगर, रायपुर (म.प्र.)
४५३. श्री सर्वार्थ कुमार शर्मा, कोठी बाजार, बैतुल (म.प्र.)
४५४. श्री एस. एन. गुहा, शंकर नगर, भोपाल (म.प्र.)

सदस्यता के नियम

(१) पत्रिका के नये सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। यदि पिछले किसी अंक से बनना हो, तो उसका उल्लेख करें।

(२) अपना नाम तथा पिनकोड सहित पूरा पता स्पष्ट रूप से अवश्य लिखें। नये सदस्य हों, तो लिखें - 'नया सदस्य'।

(३) अपनी पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व की उसका नवीनीकरण करा लें।

(४) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उससे पहले प्राप्त शिकायतों पर ध्यान नहीं दिया जायेगा।

(५) अक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अंक रू. ३/- का अतिरिक्त खर्च वहन करके इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है। यह राशि प्रति माह अंक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अतः इसे हमारे कार्यालय को मत भेजें।

(६) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

लेखकों से निवेदन

विवेक-ज्योति के लिये अपनी रचना भेजते समय कृपया निम्न बातों पर ध्यान दें -

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी रचनात्मक विषय पर रचनाओं को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो। ऐसी हो कि पत्रिका के अधिक-से अधिक चार-पाँच पृष्ठों में आ जाय। पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हुई हो।

(३) लेख में उद्धृत श्लोकों आदि के सन्दर्भ का ठीक तथा समुचित विवरण दिया जाय।

(४) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा सम्भव हो तो उसकी एक प्रतिलिपि भी संलग्न की जाय।

(५) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो अथवा भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख अवश्य करें। वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है।

(६) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में यथोचित संशोधन करने का सम्पादक को पूरा अधिकार होगा।

श्रीरामकृष्ण शरणम्

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर - ४९२ ००१ (म. प्र.)

सादर सनम्र निवेदन

आत्मीय बन्धु/भगिनी,

स्वामी विवेकानन्द, अपनी जन्मभूमि कलकत्ता के अतिरिक्त सम्पूर्ण पृथिवी में सबसे अधिक समय तक लगातार रहे हों, ऐसा स्थान है, तो वह है 'रायपुर नगर'। रायपुर में सन् १८७७ से १८७९ में अपनी किशोर अवस्था में स्वामीजी दो वर्ष रहे थे। उन्हीं की पुण्यस्मृति में रायपुर आश्रम का नामकरण रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम किया गया है।

यह आश्रम गत लगभग ४० वर्षों से नर-नारायण की सेवा में समर्पित है। आश्रम में निम्नलिखित सेवा विभाग हैं —

(१) धर्मार्थ औषधालय — नेत्ररोग विभाग, स्त्रीरोग विभाग, दन्तरोग विभाग, शिशुरोग विभाग, एक्स-रे विभाग, मनोरोग विभाग, हृदयरोग विभाग, पैथोलॉजी विभाग, नाक-कान-गला विभाग। (२) फिजियोथेरेपी (३) होमियोपैथी (४) ग्रन्थालय — (अ) विद्यार्थियों के लिये पाठ्य-पुस्तक विभाग (ब) सामान्य ग्रन्थ विभाग (स) पत्र-पत्रिकाओं सहित निःशुल्क वाचनालय (५) विद्यार्थियों के लिये निःशुल्क छात्रावास (६) श्रीरामकृष्ण मन्दिर (७) साधु-सेवा (८) गोशाला (९) स्कूल के गरीब छात्रों हेतु निःशुल्क कोचिंग क्लास।

इन वर्षों में आश्रम की सेवा गतिविधियों में पर्याप्त वृद्धि हो गई, परन्तु उसकी तुलना में आर्थिक अभाव के कारण आश्रम के भवनों आदि का विस्तार नहीं किया जा सका है। इसलिये अब आश्रम के कुछ विभागों में स्थान-विस्तार की नितान्त आवश्यकता है। उसी प्रकार आश्रम के पुराने भवनों की मरम्मत, रंग-रोगन आदि भी कराने की अत्यन्त आवश्यकता है।

आश्रम में दो प्रकार के सेवक हैं — (१) साधु-ब्रह्मचारी (२) वेतन-भोगी

साधु-ब्रह्मचारियों के भरण-पोषण तथा वेतनभोगी सेवकों के वेतनादि के लिये भी आश्रम को स्थायी कोष की आवश्यकता है। आश्रम के सेवा-कार्यों तथा सेवकों, साधु-ब्रह्मचारियों आदि का भरण-पोषण आप जैसे उदार बन्धु-भगिनियों के दान से ही चलता है।

अतः आपसे सादर अनुरोध है कि निम्नलिखित मदों में उदारतापूर्वक दान देकर अनुगृहीत करें।

बूँद बूँद से ही घड़ा भरता है। आपके द्वारा दिया गया सभी दान हमारे लिये महान है तथा हमारी योजनाओं में परम सहायक होगा।

(१) सत्-साहित्य प्रदर्शन तथा विक्रय विभाग भवन तथा उपकरण (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(२) सेवक निवास भवन तथा उपकरण (सात लाख) ७,००,०००/- रु.

(३) गोशाला निर्माण तथा गोबर गैस संयंत्र आदि (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(४) मन्दिर के सामने मुख्य द्वार का निर्माण तथा द्वार से मन्दिर तक पथ निर्माण (तीन लाख) ३,००,०००/- रु.

(५) पुराने भवनों की मरम्मत तथा रंग-रोगन आदि (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(६) मन्दिर का फूल-उद्यान, जल संसाधन व्यवस्था तथा इनका रख-रखाव एवं विद्युत खर्च (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(७) औषधालय में औषधि आदि का व्यय तथा फिजियोथेरेपि यंत्रों का रख-रखाव, विद्युत व्यय, कर्मचारियों का मानदेय आदि (पच्चीस लाख) २५,००,०००/- रु.

स्थायी कोष के लिये अपेक्षित कुल राशि (रू. एक करोड़ मात्र) १,००,००,०००/- रु.

नर-नारायण की सेवा में आपका सहयोगी,

(स्वामी सत्यरूपानन्द)
सचिव

चेक/ड्राफ्ट कृपया रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के नाम पर लिखें।

रामकृष्ण मिशन को दिये गये दान में ८०जी आयकर अधिनियम के अन्तर्गत छूट मिलती है।
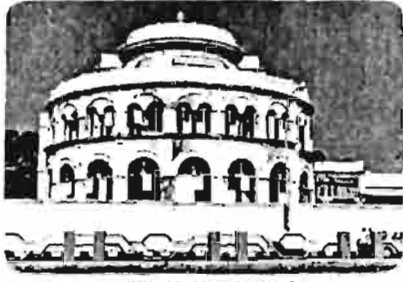
श्रीरामकृष्ण मठ
मयलापुर, चेन्नई - ६०० ००४
फोन -४९४१२३१, ४९४१९५९ फॅक्स : ४९३४५८९
Website · www.sriramakrishnamath.org
email . srkmath@vsnl.com

८ जनवरी १९९९

प्रिय बन्धु,

स्वामी विवेकानन्द के जीवन तथा उपदेशों से प्रत्येक अध्येता के लिए विवेकानन्दार इल्लम एक पुनीत भवन तथा तीर्थस्थान है। आपको विदित होगा ही कि सौ वर्ष पूर्व, फरवरी १८९७ ई. में स्वामी विवेकानन्द चेन्नै के आइस हाऊस या कैसल कर्नन नामक इसी बँगले में पधारे थे। उन्होंने यहाँ पूरे नौ दिन निवास करते हुए बहुत-से आगन्तुकों से भेंट की, भजन गाये, प्रार्थना की और ध्यान किया। यह स्थान अब भी उनकी अदृश्य तथा दिव्य उपस्थिति से स्पन्दित है।

उन्होंने इसमें ६ से १४ फरवरी तक निवास किया तथा भारत के पुनर्निर्माण हेतु भावोत्तेजक भाषण दिये, जो अब 'भारतीय व्याख्यान' नामक पुस्तक में उपलब्ध हैं। फिर १८९७ ई. में स्वामी विवेकानन्द के गुरुभाई तथा एक महान सन्त स्वामी रामकृष्णानन्द के तत्त्वावधान में यहाँ रामकृष्ण मठ की स्थापना हुई, जो १९०६ ई. तक इसी पुनीत भवन में से चलता रहा। इस प्रकार यह भवन दक्षिण भारत में रामकृष्ण संघ के प्रथम केन्द्र का निवास होने के साथ ही एक ऐतिहासिक स्थल भी है, जहाँ से स्वामीजी ने पूरे राष्ट्र को सन्देश दिया।

हम यहाँ एक स्थायी प्रदर्शनी बनाना चाहते हैं, जिसमें स्वामी विवेकानन्द के जीवन तथा सन्देश और भारतीय सस्कृति के उच्च तत्त्वों को प्रदर्शित किया जा सके। हमारी अभिलाषा है कि इसे एक ऐसा केन्द्र बनाया जाए, जहाँ से स्वामीजी के जीवनदायिनी सन्देश को पूर्णाकार चित्रों, सुन्दर तैलचित्रों, मॉडलों, वीडियोग्राफ और फिल्मों द्वारा प्रचारित किया जाए।

यह भवन १८४२ ई. में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन के दौरान निर्मित हुआ था और सबसे पहले तो इसका समुचित जीर्णोद्धार आवश्यक है। इस परियोजना में लगभग १.५ करोड़ रुपयों की लागत आयेगी। इसका कार्य शीघ्र ही आरम्भ होने जा रहा है, अत: आपसे अनुरोध है कि इस पुण्य कार्य में उदारतापूर्वक सहयोग करके आप श्रीरामकृष्ण के आशीर्वाद तथा विवेकानन्द- अनुरागियों की कृतज्ञता के भाजन बनें। सभी प्रकार के दान आयकर से मुक्त हैं। चेक या ड्राफ्ट कृपया 'रामकृष्ण मठ, चेन्नै' के नाम से भेजें।

मानवता की सेवा में आपका
स्वामी गौतमानन्द

नीति-शतकम्

दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्तचिन्मात्रमूर्तये ।
स्वानुभूत्येकमानायनमः शान्ताय तेजसे ।।१।।

अन्वय – दिक्-कालादि-अनवच्छिन्न-अनन्त-चिन्मात्र-मूर्तये स्वानुभूति-एकमानाय शान्ताय तेजसे नमः ।।

भावार्थ – मैं उन शान्त तथा तेजस्वरूप ब्रह्म को नमस्कार करता हूँ, जो दिशा-काल आदि की सीमा से परे, अनन्त, चैतन्य-स्वरूप, केवल स्वानुभव के द्वारा ही बोधगम्य है ।

बोद्धारो मत्सरग्रस्ताः प्रभवः स्मयदूषिताः ।
अबोधोपहताश्चान्ये जीर्णमङ्गे सुभाषितम् ।।२।।

अन्वय – बोद्धारः मत्सर-ग्रस्ताः प्रभवः स्मय-दूषिताः, अन्ये च अबोध-उपहताः सुभाषितम् अङ्गे जीर्णम् ।

भावार्थ – विद्वान् लोग ईर्ष्या से ग्रस्त हैं, समृद्धिशाली लोग अहंकार से उन्मत्त हैं और बाकी लोग अज्ञान से पीड़ित हैं; (अतः) मेरे सुभाषित मेरे अंगों में ही जीर्ण-शीर्ण हो गये हैं ।

अज्ञः सुखमाराध्यः सुखतरमाराध्यते विशेषज्ञः।
ज्ञानलवदुर्विदग्धं ब्रह्मापि तं न रञ्जयति ।।३।।

अन्वय – अज्ञः सुखम् आराध्यः विशेषज्ञः सुखतरम् आराध्यते ज्ञान-लव-दुर्विदग्धं तं नरं ब्रह्मा अपि न रञ्जयति ।

भावार्थ – अज्ञानी व्यक्ति को सहज ही समझाया जा सकता है, बड़े ज्ञानी को और भी आसानी से समझाया जा सकता है, परन्तु लेश मात्र ज्ञान पाकर ही स्वयं को विद्वान् समझनेवाले गर्वोन्मत्त व्यक्ति को ब्रह्मा भी सन्तुष्ट नहीं कर सकते ।

– भर्तृहरि

रामकृष्ण-वन्दना

– १ –

जागो जागो भारतवासी, विगत निशा अब हुआ विहान ।
सब धर्मों में प्राण जगाने, आये रामकृष्ण भगवान ।।

ब्रह्मरूप जग के अतीत जो, विश्व चलाते शक्ति रूप हो,
युग युग में आकर धरती पर, लीला करते दिव्य ललाम ।।

लोग हुए जड़वादी नास्तिक, डूबे भोग-रोग में धिक-धिक,
संशय मोह दूर सब होगा, करके वचनामृत का पान ।।

धर्म सिखाया मूर्तिमन्त हो, बने प्रेरणा साधु-सुजन को,
त्याग और सेवा सिखलाया, नर में नारायण का ज्ञान ।।

– २ –

जीवन के देवालय में, तुम प्रगटो चिन्मय भास्वर,
निरखूँ वह रूप तुम्हारा, तेजोमय सुन्दर सुखकर ।।

मम मन मन्दिर प्रांगण में, नित लीला करो मनोहर,
आनन्द दिव्य फैलाओ, दुख दोष विकार मिटाकर ।।

गुणमय काया धारण कर, हो मन वाणी के गोचर,
प्रतिपल समाधि में डूबे, रहना तुम प्रभो निरन्तर ।।

निज भक्तों से आवृत हो, हृदि कमलासन पर बैठो,
तव नाम रूप वाणी का, रसपान करूँ मैं मधुकर ।।

दो अभिनव जीवन मुझको, हे परमपुरुष करुणाकर,
मैं धन्य धन्य हो जाऊँ, तव पूत संग में रहकर ।।

– विदेह

भारत का जीवनोद्देश्य

स्वामी विवेकानन्द

(रामकृष्ण मिशन के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी निर्वेदानन्द जी ने स्वामी विवेकानन्द की अंग्रेजी ग्रंथावली में यत्र-तत्र बिखरे भारत तथा उसकी समस्याओं से सम्बन्धित विचारों का एक संकलन बनाया था। यह संकलन स्वामीजी के भारत-विषयक विचारों को समझने में काफी उपयोगी है तथा इसीलिए अतीव लोकप्रिय भी हुआ। 'विवेक-ज्योति' के पाठकों के लिए भी इसका हिन्दी रूपान्तरण प्रस्तुत किया जा रहा है। – सं.)

हजारों वर्ष के नाना प्रकार की विपत्तियाँ झेलकर भी यह हिन्दू-जाति क्यों नहीं मरी? यदि हमारी रीति-नीति इतनी ही खराब होती, तो हम लोग इतने दिनों में धरती से मिट क्यों नहीं गये? विदेशी विजेताओं की चेष्टाओं में क्या कोई कसर थी? तो भी सारे हिन्दू मरकर नष्ट क्यों नहीं हो गये? अन्य असभ्य देशों में भी तो ऐसा ही हुआ है। जैसे आस्ट्रेलिया, अमेरिका तथा अफ्रीका आदि महाद्वीप जनविहीन हो गये और विदेशी वहाँ जाकर खेती-बाड़ी करने लगे और कर रहे हैं, वैसा ही भारतीय प्रदेश में भी क्यों नहीं हुआ? पहले समझ लो कि भारत में भी बल है, सार है। और यह भी जान लो कि अब भी हमारे पास जगत् के सभ्यता-भण्डार में जोड़ने के लिये कुछ है, इसीलिये हम बचे हैं।

प्रत्येक मनुष्य में एक भाव विद्यमान रहता है और बाह्य मनुष्य उसी की अभिव्यक्ति अर्थात् भाषा मात्र होता है। इसी प्रकार प्रत्येक देश का एक राष्ट्रीय भाव होता है। यह भाव जगत् के लिये कार्य करता है; यह संसार की स्थिति के लिये आवश्यक है। जिस दिन इसकी जरूरत नहीं रहेगी, उसी दिन उस जाति अथवा व्यक्ति का नाश हो जाएगा। इतने दुख-दारिद्र्य में भी, बाहर का उत्पात सहकर भी हम भारतवासी बचे हैं, इसका अर्थ यही है कि हमारा एक जातीय भाव है, जो इस समय भी जगत् के लिये आवश्यक है।

प्रत्येक जाति या राष्ट्र का किसी-न-किसी तरफ विशेष झुकाव हुआ करता है। मानो प्रत्येक जाति का एक एक विशेष जीवनोद्देश्य होता है। प्रत्येक जाति को समस्त मानव जाति के जीवन को सर्वांगपूर्ण बनाने के लिये किसी व्रतविशेष का पालन करना पड़ता है। अपने व्रतविशेष को पूर्णतः सम्पन्न करने के लिये मानो प्रत्येक जाति को उसका उद्यापन करना ही पड़ेगा। राजनीतिक श्रेष्ठता या सामरिक शक्ति प्राप्त करना किसी काल में हमारी जाति का जीवनोद्देश्य न कभी रहा है, न इस समय है और याद रखो, न आगे कभी होगा। हाँ, हमारा दूसरा ही राष्ट्रीय जीवनोद्देश्य रहा है और वह यह है कि समग्र राष्ट्र की आध्यात्मिक शक्ति को मानो किसी डायनेमो में संग्रहीत संरक्षित तथा नियोजित किया गया हो; और कभी मौका आने पर वह संचित शक्ति जल-प्लावन के समान सम्पूर्ण पृथ्वी को बहा देगी।

राजदण्ड टूटते रहे और फेंक दिये जाते रहे हैं, शक्ति का कन्दुक एक हाथ से दूसरे हाथ में उछलता रहा है, पर भारत में राज-दरबारों तथा राजाओं का प्रभाव सर्वदा थोड़े-से लोगों को ही छू सका है – उच्चतम से निम्नतम तक जनता की विशाल राशि अपनी अनिवार्य जीवनधारा का अनुगमन करने के लिये मुक्त रही है और राष्ट्रीय जीवनधारा कभी मन्द तथा अर्धचेतन गति से और कभी प्रबल तथा प्रबुद्ध गति से प्रवाहित होती रही है। उन बीसों ज्योतिर्मय शताब्दियों की अटूट श्रृंखला के सम्मुख मैं तो विस्मयाकुल खड़ा हूँ, जिनके बीच यत्र-तत्र एकाध धूमिल कड़ी है, जो अगली कड़ी को और भी अधिक ज्योतिर्मय बना देती है और इनके बीच अपने सहज महिमामय पदक्षेप के साथ प्रगतिशील है मेरी यह जन्मभूमि – पशु-मानव को देव-मानव में रूपान्तरित करने हेतु अपने गौरवपूर्ण लक्ष्य की सिद्धि के लिये – जिसे धरती या आकाश की कोई शक्ति रोक नहीं सकती।

हाँ, मेरे बन्धुओ, हमारे देश का यही गौरवमय भाग्य है, क्योंकि उपनिषद-युगीन सुदूर अतीत में हमने इस संसार को एक चुनौती दी थी – **न प्रजया धनेन त्यागेन एके अमृतत्वम् आनशुः** – 'न तो सन्तति के द्वारा और न सम्पत्ति के द्वारा, अपितु केवल त्याग के द्वारा ही मोक्ष की प्राप्ति होती है।' एक के बाद दूसरी जाति ने इस चुनौती को स्वीकार किया और अपनी शक्ति भर संसार की इस पहेली को कामनाओं के स्तर पर सुलझाने का प्रयत्न किया। वे सब-की-सब अतीत में असफल रही हैं – पुराने राष्ट्र तो शक्ति और स्वर्ण की लोलुपता से उद्भूत पापाचार और दैन्य के बोझ से दबकर पिस-मिट गये और नये राष्ट्र गर्त में गिरने को डगमगा रहे हैं। यह प्रश्न अभी भी समाधान की प्रतीक्षा कर रहा है कि शान्ति की जय होगी या युद्ध की, सहिष्णुता की विजय होगी या असहिष्णुता की, भले की विजय होगी या बुरे की, बाहुबल की विजय होगी या बुद्धि की, सांसारिकता की विजय होगी या आध्यात्मिकता की। हमने तो युगों पहले अपने लिये इसका हल ढूँढ़ लिया था और सौभाग्य या दुर्भाग्य के बीच हम अपने उस समाधान पर दृढ़ रहते हुए चिरकाल तक उसी को पकड़े रहने का संकल्प किये हुए हैं। हमारा समाधान है – असांसारिकता – त्याग।

भारत के अस्तित्व का एकमात्र हेतु है – मानवजाति का आध्यात्मीकरण। यही उसकी जीवन-रचना का प्रतिपाद्य विषय है, यही उसके अनन्त संगीत का दायित्व है, यही उसके अस्तित्व का मेरुदण्ड है और यही उसके जीवन की आधारशिला है। चाहे तातारों का शासन रहा हो या तुर्कों का, चाहे मुगलों ने राज्य किया हो या अंग्रेजों ने; अपने इस सुदीर्घ जीवन-प्रवाह में भारत कभी अपने इस मार्ग से विचलित नहीं हुआ।

संसार एक सर्वांगीण सभ्यता की प्रतीक्षा कर रहा है। शताब्दियो की अवनति, दुख तथा दुर्भाग्य के भँवर में पड़कर भी हिन्दू-जाति उत्तराधिकार में प्राप्त धर्मरूपी जिन अमूल्य रत्नों को यत्नपूर्वक अपने हृदय से लगाये हुए है, उन्हीं रत्नों की आशा में संसार उसकी ओर आग्रहभरी दृष्टि से निहार रहा है। तुम्हारे पूर्वजों के उन्हीं अपूर्व रत्नों के लिये भारत से बाहर के लोग कितने उत्कण्ठित हो रहे हैं, यह मैं तुम्हें कैसे समझाऊँ? यहाँ हम अनर्गल बकवास किया करते हैं, आपस में झगड़ते रहते हैं, श्रद्धायोग्य सभी गम्भीर विषयों को हँसकर उड़ा देते हैं, यहाँ तक कि इस समय प्रत्येक पवित्र वस्तु को हँसकर उड़ा देने की प्रवृत्ति हमारी एक जातीय दुर्गुण हो गयी है। इसी भारत में हमारे पूर्वज जो जीवनदायी अमृत रख गये हैं, उसका एक एक कण पाने के लिये भारत के बाहर के लाखों लोग कितने आग्रह के साथ हाथ फैलाए हुए हैं, यह हमारी समझ में भला कैसे आ सकता हैं!

भारत का भविष्य

आप लोग अध्यात्म में विश्वास कीजिये या मत कीजिये, यदि आप राष्ट्रीय जीवन को दुरुस्त रखना चाहते हैं, तो आपको आध्यात्मिकता की रक्षा के लिये सचेष्ट होना होगा। एक हाथ से धर्म को मजबूती से पकड़े हुए दूसरा हाथ बढ़ाकर अन्य जातियों से जो कुछ सीखना हो, सीख लीजिये! परन्तु स्मरण रहे कि आप जो कुछ सीखें उसे मूल आदर्श का अनुगामी ही रखना होगा। तभी अपूर्व महिमा से मण्डित भावी भारत का निर्माण होगा। मेरा दृढ़ विश्वास है कि शीघ्र ही भारतवर्ष उस श्रेष्ठता का अधिकारी होगा, जिस श्रेष्ठता का अधिकारी वह किसी भी काल में नहीं था। प्राचीन ऋषियों की अपेक्षा श्रेष्ठतर ऋषियों का आविर्भाव होगा और आपके पूर्वज अपने वंशधरों की इस अभूतपूर्व उन्नति से बड़े सन्तुष्ट होंगे। इतना ही, मैं निश्चित रूप से कहता हूँ, वे परलोक में अपने अपने स्थानों से अपने वंशजों को इस प्रकार महिमान्वित तथा गौरवशाली देखकर गर्व का अनुभव करेंगे। हे भाइयो, हम सभी लोगों को इस समय कठिन परिश्रम करना होगा। अब सोने का समय नहीं है। हमारे कार्यों पर भारत का भविष्य निर्भर है। हमारी भारतमाता तैयार होकर प्रतीक्षा कर रही है। वह केवल सो रही है। उसे जगाइये और पहले से भी अधिक गौरव-मण्डित तथा नवशक्ति से सम्पन्न करके भक्तिपूर्वक उसे उसके चिरन्तन सिंहासन पर विराजमान कराइये।

किसी विशाल वृक्ष से एक सुन्दर पका हुआ फल पैदा हुआ, फल जमीन पर गिरा और सड़ने लगा, इस विनाश से जो अंकुर उगा, सम्भव है वह पहले के वृक्ष से बड़ा हो जाय। अवनति के जिस युग के भीतर से हमें गुजरना पड़ा, वे सभी आवश्यक थे। इसी अवनति के भीतर से भविष्य का भारत आ रहा है, वह अंकुरित हो चुका है, उसके नये पल्लव निकल चुके हैं और उस शक्तिधर विशालकाय वृक्ष का निकलना शुरू हो चुका है।

सुदीर्घ रजनी अब समाप्त होती हुई जान पड़ती है। महादु:ख का प्राय: अन्त ही प्रतीत होता है। महानिद्रा में निमग्न शव मानो जाग्रत हो रहा है। इतिहास की बात तो दूर रही, जिस सुदूर अतीत के सघन अन्धकार का भेद करने में किंवदन्तियाँ भी असमर्थ हैं, वहीं से एक आवाज हमारे पास आ रही है। ज्ञान, भक्ति और कर्म के अनन्त हिमालय स्वरूप हमारी मातृभूमि भारत की हर एक चोटी पर प्रतिध्वनित होकर वह आवाज मृदु, दृढ़, परन्तु अभ्रान्त स्वर में हमारे पास तक आ रही है। जितना समय बीतता है, उतनी ही वह और भी स्पष्ट तथा गम्भीर होती जाती है – और देखो, वह निद्रित भारत अब जागने लगा है। मानो हिमालय के प्राणप्रद वायु-स्पर्श से मृतदेह के शिथिलप्राय अस्थि-मांस तक में प्राण-संचार हो रहा है। जड़ता धीरे धीरे दूर हो रही है। जो अन्धे हैं, वे ही देख नहीं सकते और जो विकृत-बुद्धि हैं, वे ही समझ नहीं सकते कि हमारी मातृभूमि अपनी गम्भीर निद्रा से अब जाग रही है। अब कोई उसे रोक नहीं सकता। अब वह फिर सो भी नहीं सकती। कोई बाह्य शक्ति अब इसे दबा नहीं सकती, क्योंकि यह असाधारण शक्तिमान देश अब जाग कर खड़ा हो रहा है।

उठो, उठो, लम्बी रात बीत रही है, सूर्योदय का प्रकाश दिखाई दे रहा है। तरंग ऊँची उठ चुकी है, उस प्रचण्ड जलोच्छ्वास का कुछ भी प्रतिरोध न कर सकेगा। विश्वास करो, विश्वास करो – प्रभु की आज्ञा है कि भारत की उन्नति अवश्य होगी और साधारण तथा गरीब लोगों को सुखी करना होगा। स्वयं को धन्य मानो कि तुम प्रभु के हाथ का यंत्र बनने के लिये चुने गये हो। आध्यात्मिकता की बाढ़ आ गई है। निर्बाध, नि:सीम, सर्वग्रासी उस प्लावन को मैं धरती पर प्रवाहित होते देख रहा हूँ। तुम सभी आगे बढ़ो, सबकी शुभेच्छाएँ उसकी शक्ति में जुड़ जायँ, सभी हाथ उसके मार्ग की बाधाएँ हटा दें। प्रभु की जय हो। ❖ (क्रमशः) ❖

श्रीरामकृष्ण-वचनामृत-प्रसंग

(छिहत्तरवाँ प्रवचन)

स्वामी भूतेशानन्द

(रामकृष्ण संघ के भूतपूर्व महाध्यक्ष स्वामी भूतेशानन्दजी महाराज ने पहले बेलूड़ मठ और तदुपरान्त रामकृष्ण योगोद्यान, कलकत्ता में 'कथामृत' पर बँगला में जो धारावाहिक प्रवचन दिये थे, वे संकलित होकर छह भागों में प्रकाशित हुए है। इनकी उपादेयता को देखते हुए हम भी इन्हें धारावाहिक रूप से प्रकाशित कर रहे हैं। अनुवादक श्री राजेन्द्र तिवारी सम्प्रति श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापक हैं। – सं.)

जप, ध्यान और कीर्तन

ठाकुर अधर के घर गये हुए हैं। बीच बीच में वे वहाँ जाते रहते हैं और उनके वहाँ जाने पर अन्य स्थानों की ही भाँति वहाँ भी आनन्द का मेला लग जाया करता है। अधर के यहाँ प्रतिदिन वैष्णवचरण का कीर्तन होता है। ठाकुर ने अधर से कहा, "तुम थोड़ा थोड़ा कीर्तन सुना करो।" उनके कथन का तात्पर्य यह है कि सामान्यत: हम पूजा, पाठ, जप, ध्यान, भगवन्नाम-कीर्तन तथा श्रवण के रूप में जिन प्रणालियों का अनुसरण करते हैं, वे सभी साधन-पथ में अग्रसर होने के लिए अनुकूल हैं। इनमें से कीर्तन में मन सरस होता है। जब मन के भीतर उनके नाम से आनन्द होने लगता है, तब फिर किसी बाहरी उपकरण की आवश्यकता नहीं होती। उसके पहले विविध उपायों का अवलम्बन करना पड़ता है। नाम में रुचि न होने पर साधना बड़ी नीरस जान पड़ती है। जैसा कि ठाकुर कहते हैं – बड़ा एकांगी लगता है। साधना करना आरम्भ करने पर बहुतों को लगता है कि जप किये जा रहा हूँ, परन्तु भीतर रसास्वादन नहीं हो रहा है। इसी प्रकार साधना की अन्य प्रणालियाँ भी उपाय तो अवश्य हैं, परन्तु उनमें मन को एकाग्र करना सहज नहीं है। कीर्तन में मनुष्य का मन सहज ही आकृष्ट हो जाता है। स्वर स्वभाव से ही मनुष्य के मन को मुग्ध करता है और विशेषकर भक्ति-संगीत में सहज ही भगवदानन्द का रसास्वादन होता है। इसीलिए वैष्णव-धर्म में कीर्तन पर इतना जोर दिया गया है। ठाकुर भी यहाँ अधर को प्रतिदिन कीर्तन सुनने को कह रहे हैं, ताकि उनके साधन-मार्ग की नीरसता कट जाय।

पर केवल कीर्तन से काम नहीं चलेगा, उसके साथ साथ जप-ध्यान भी करना होगा। केवल कीर्तन से मन बहिर्मुखी हो जाता है। मन आस्वादन तो करता है, पर गहराइयों में नहीं जा पाता। इसीलिए वैष्णव-धर्म में भी कीर्तन के साथ साथ एकाग्र भाव से जप-ध्यान करने को कहा गया है।

इसके बाद बहुत-से कीर्तन गाये गये। उन सबमें विशेषता यह थी कि श्री चैतन्यदेव विषयक कीर्तन होने के बाद दुर्गा की महिमा का गायन हो रहा है – **'तोमा होते हरि ब्रह्मा द्वादश गोपाल।'** कट्टर वैष्णव लोग यह सब स्वीकार नहीं करते, परन्तु यहाँ पर वैष्णवचरण ने वही तत्त्व प्रकट किया। इससे हम समझ सकते हैं कि ठाकुर के सम्पर्क में आकर वे कैसे उदारभाव वाले हो गये हैं।

इन भजनों के द्वारा षट्चक्र की भी बात कही गयी है। अनुभव के बिना केवल व्याख्या-विश्लेषण के द्वारा इन चीजों को नहीं समझाया जा सकता। यह सब साधारण लोगों के लिये बोधगम्य नहीं, परन्तु योगियों के लिये ही ध्यानगम्य है। कुछ लोग कभी कभी सोचते हैं कि उनको इस तरह की विभिन्न अनुभूतियाँ हुई हैं, पर सच कहें तो ये सब अनुभूतियाँ होना सहज बात नहीं है और जिन्हें यह होती है उनकी जीवन-धारा पूरी तौर से बदल जाती है। तब उनका सारा मन उन एक परमेश्वर में ही केन्द्रित होकर रहता है। यदि ऐसा न हो, तो इन अनुभूतियों का कोई अर्थ नहीं रह जायेगा।

भक्त का अन्न शुद्ध होता है

यहाँ पर केदार आदि भक्तगण उपस्थित हैं। ठाकुर इन विशिष्ट भक्तों के लिये माँ से ईश्वरीय-शक्ति के लिये प्रार्थना किया करते थे कि उन लोगों के माध्यम से यह तत्त्व सामान्य लोगों तक पहुँच जाय।

ठाकुर केदार की बड़ी उच्च प्रशंसा किया करते थे। वे विनयशील तथा भगवत्परायण थे और भगवद्चर्चा के समय उनके नेत्रों से अश्रुपात हुआ करता था। यहाँ केदार कह रहे हैं कि उनके पास आनेवालों में से अनेक लोग मिठाई आदि ले आते हैं, उन सबको वे स्वीकार करें या नहीं। ठाकुर कह रहे हैं, "भक्त हो तो चाण्डाल का भी अन्न खाया जा सकता है।" आन्तरिक मन भगवान में रहे तो कोई दोष नहीं होता। अपने विषय में कह रहे हैं कि एक बार उन्होंने गणिका के हाथ का भी खाया था, उस समय द्विधा नहीं हुई थी। कहना न होगा कि ठाकुर सभी अवस्थाओं में एक ही जैसा आचरण नही कर पाते थे। भावमुख में रहने पर उनमें पात्र-अपात्र का विचार नही रहता था, फिर दूसरे समय ब्राह्मण को छोड़ किसी अन्य का बनाया गया भोजन ग्रहण नहीं कर पाते थे।

कई बार भक्त लोग आकर हम लोगों से पूछते हैं – हम लोगों के पकाने पर ठाकुर खायेंगे क्या? इसका उत्तर हुआ – ठाकुर खायेंगे या नहीं, यह तो वे ही जानें। तो भी यह स्मरण

रखना होगा कि उनके भक्तगण उनकी सन्तान हैं और सन्तान के हाथ का माता-पिता खायेंगे या नहीं, यदि ऐसा प्रश्न नही उठता तो फिर ठाकुर खायेंगे या नहीं, यह प्रश्न भी नहीं उठता । जो कोई उन्हें अपना समझता है, वह श्रद्धापूर्वक दे तो वे निश्चय ही ग्रहण करेंगे । सामान्यत: ठाकुर वंशानुक्रमिक प्रथा के अनुसार ब्राह्मणेतर वर्ण का अन्न नहीं खाते थे, तथापि उन्होंने धनी लुहारनी को अपनी भिक्षा-माँ बनाया था और उनके हाथ से खाया भी था । यह उनकी अवस्था-विशेष पर निर्भर करता था । इस विषय में कोई सामान्य सिद्धान्त नहीं बनाया जा सकता ।

एक अभिनेत्री ठाकुर के लिये बहुत-सा फल-मिष्ठान्न लेकर बेलूड़ मठ आया करती थी । उन दिनों जो महिलाएँ अभिनय का कार्य करती थीं, उनमें से बहुतों का चरित्र ठीक नहीं था । अत: हमारे मन में सन्देह जागा कि उनका लाया हुआ फल-मिष्ठान्न ठाकुर को निवेदित किया जाय या नहीं । स्वामी शिवानन्द महाराज से पूछने पर वे बोले, "देखो भाई, भक्त की लाई हुई चीज है । अब ठाकुर खायेंगे या नहीं, यह वे स्वयं जानें । तुम लोगों का कार्य है कि भक्तगण जो कुछ लाते हैं, वह उनके सामने रख देना । अत: तुम लोग एक अलग पात्र में इसे ठाकुर के समक्ष रख देना ।" और साधुओं से बोले, "तुम लोगों की इच्छा हो, तो उसे प्रसाद के रूप में ग्रहण कर सकते हो, इच्छा न हो तो मत लेना । मैं इस विषय में कोई बँधा हुआ नियम नहीं बनाना चाहता । यदि किसी को विश्वास हो कि भगवान को अर्पित की हुई वस्तु अपवित्र नहीं हो सकती, तो उसके लिये इसे ग्रहण करने में कोई हर्ज नहीं है, परन्तु यदि किसी को लगे कि अपवित्र हाथ से अर्पित वस्तु को ठाकुर स्वीकार नहीं कर सकते, तो फिर वह उस प्रसाद को ग्रहण न करे ।" कौन-सा वे ग्रहण करेंगे और कौन-सा नहीं, यह तो वे ही जानते हैं । हमारे मन में यदि प्रश्न उठे कि हम ठाकुर को भोग-निवेदन करें या नहीं, तो उसका उत्तर है कि उन्हें अपना मानने पर निवेदन करने में कोई बाधा नहीं है । परन्तु मन में द्विधा रहे तो मन के कथनानुसार ही चलो । अब वे स्थूल शरीर में सीमित नहीं हैं, बल्कि सबके अन्तर में रहकर सभी की पूजा स्वीकार कर रहे हैं । जो कोई उन्हें अपना मानता है, उसका निश्चित रूप से उनकी सेवा में पूर्ण अधिकार है ।

केदार ठाकुर से शक्ति के लिये प्रार्थना कर रहे हैं । बहुत से भक्त उनके पास आध्यात्मिक कल्याण के लिये आया करते हैं । उन्हें उन लोगों की आकांक्षा पूरी करने की क्षमता मिल जाय, इसीलिये प्रार्थना कर रहे हैं । ठाकुर आश्वासन दे रहे हैं, "अजी, सब हो जायेगा, आन्तरिक भक्ति के रहने पर सब हो जाता है ।" यहाँ पर गौर करने की बात यह है कि केदार केवल अपनी भक्ति के बारे में नहीं कहते, बल्कि स्वयं को ठाकुर के हाथ के यंत्र के रूप में तैयार करना चाहते हैं, ताकि उनके माध्यम से दूसरों का कल्याण हो ।

भगवान के स्वरूप में विविधता

साकार-निराकार के विषय में बात चल रही है । श्रीरामकृष्ण कह रहे हैं , "वे साकार हैं, निराकार हैं, और भी न जाने क्या क्या हैं ।" ठाकुर के कहने का अभिप्राय यह है कि भगवान की कभी इति नहीं करनी चाहिये । हम लोग कहते हैं – मैं उन्हें जैसा समझता हूँ, उसके अतिरिक्त वे और कुछ नहीं हो सकते । जैसा कि वेदान्ती कहते हैं – वे निराकार के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकते ।

साकारवादियों का कहना है – निराकार तो कोई तत्त्व ही नहीं हुआ । चैतन्य चरितामृत में लिखा है कि सूर्यलोक के निवासियों का विचित्र रूप विचित्र वर्ण और विचित्र प्रकार है । दूर से देखनेवाले लोग सूर्य को एक जलते हुए अग्नि-पिण्ड के रूप में देखते हैं, उसमें विविधता बिल्कुल भी नहीं देख पाते । उसी प्रकार ज्ञानी लोग भी अपनी ज्ञान-दृष्टि के द्वारा भगवान के भीतर कोई वैचित्र्य नहीं देख पाते; भगवान के ज्योतिर्मय रूप से उनकी आँखें चकाचौंध हो जाती हैं । वे लोग कहते हैं, "भक्तगण भगवान के भीतर जो तरह तरह के वैचित्र्य देखते हैं, वह सब माया की सृष्टि है । यह वैचित्र्य उनका नहीं है, क्योंकि विविध होने पर वे परिवर्तनशील परिणामी और इस कारण अनित्य तथा नश्वर हो जायेंगे । परन्तु उन्हें तो ऐसा नहीं कहा जा सकता । अत: भगवान में विविधता की कल्पना मिथ्या है ।"

दूसरी ओर भक्तगण कहते हैं, "तुम लोग दूर से देखकर समझते हो कि भगवान में वैचित्र्य नहीं है, क्योंकि तुम लोग उनका स्वरूप नहीं जानते ।" इसी तरह उनका आपस में दोषारोपण चलता रहता है । सच्ची बात तो यह है कि हम लोग जिस बुद्धि के द्वारा भगवान को समझने का प्रयास करते हैं, वह बुद्धि ही सीमित है । इस सम्बन्ध में ठाकुर द्वारा कथित 'अन्धों द्वारा हाथी देखने जाने' का दृष्टान्त बड़ा सटीक है । कोई उसका पाँव, कोई पूँछ, तो कोई पेट का स्पर्श करके – सभी भिन्न भिन्न प्रकार से हाथी का वर्णन कर रहे हैं । ठाकुर किसी को भी गलत न बताते हुए कहते हैं कि उन लोगों के अनुभव सीमित हैं । भगवान का स्वरूप बहु-आयामी है, जिसे जैसा अनुभव हुआ है वह वैसा ही कहता है । इसमें कोई दोष नहीं है । परन्तु ऐसा निश्चय करना उचित नहीं कि हम जितना जानते हैं वे बस उतने ही हैं ।

❖ (क्रमश:) ❖
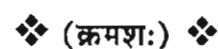
मानस-रोग (३६/२)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(हमारे आश्रम द्वारा आयोजित विवेकानन्द जयन्ती समारोह के अवसरों पर पण्डितजी ने 'मानस' के वर्तमान प्रकरण पर कुल ४५ प्रवचन दिये थे। प्रस्तुत अनुलेखन उनके छत्तीसवें प्रवचन का उत्तरार्ध है। टेप से इन्हें लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो सम्प्रति श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापन करते हैं। - सं.)

श्री भरत परम सिद्ध और भगवान से अभिन्न हैं। भगवान को पा लेने पर जीव जीव नहीं रह जाता और न ही उस पर कोई भार रह जाता है, परन्तु भरतजी ने अपने चरित्र के माध्यम से साधक-जीव के समक्ष एक आदर्श प्रस्तुत करने के लिये जिस भूमिका को स्वीकार किया है, वह बड़ा ही विस्तृत प्रसग है। यहाँ पर मैं उसे केवल हर्ष-विषाद के सन्दर्भ तक ही सीमित रखने का प्रयास करूँगा। हर्ष और विषाद जीव का लक्षण है, जिसमें हर्ष-विषाद है, उसी को जीव कहते हैं। जीव का यह स्वभाव कब छूटेगा? इसका सीधा उत्तर यह है कि नदी जब तक समुद्र से अलग रहेगी, तब तक उसमें नदी का गुण तथा स्वभाव बना रहेगा, पर ज्योंही वह समुद्र में विलीन हो जाती है त्योंही उसका गुण तथा स्वभाव भी छूट जाता है। इस सन्दर्भ में लक्ष्मणजी को उपदेश देते हुए भगवान राम वर्षा ऋतु में आकाश से गिरने वाली बूँदों का दृष्टान्त देते हुए उनकी तुलना जीवों से करते हैं। भगवान राम बोले – समुद्र का जल ही तो बादल बनकर आकाश में आने के बाद वर्षा की बूँदों के रूप में बरस रहा है। आकाश से गिरते समय वह अतीव स्वच्छ होते हुए भी भूमि का स्पर्श होते ही उसमें मलिनता आ जाती है –

भूमि परत भा ढाबर पानी।
जनु जीवहि माया लपटानी॥ ४/१४/६

इस प्रकार नित्य-शुद्ध-बुद्ध आत्मारूप जीव, ईश्वर का अश हाकर भी ससार में आकर, माया के स्पर्श से भोगों में लिप्त होकर मलिन हो जाता है। नभ से गिरनेवाली जल की बूँदों को यदि आप धरती पर गिरने के पहले ही रोक लें, तो देखेंगे कि वे अतीव निर्मल हैं। धरती पर गिरते ही वह मिट्टी से मिलकर दूषित हो जाती है। यह मलिनता कब दूर होती है?

बूँद के साथ एक समस्या है। वैसे तो बूँद भी मूलतः जल है और सागर भी, परन्तु दोनों में एक भेद है – सागर का जल अगाध-अनन्त है, जबकि बूँद अत्यन्त क्षुद्र है; वह सूख भी सकती है, नष्ट भी हो सकती है। गोपी-उद्धव सवाद के माध्यम से भक्तों ने कहा – वेसे तो जीव ईश्वर का अश है, पर वह तो बूँद के समान है। अब बूँद यदि सागर होने का दावा करे, तो वह उसकी क्षुद्रता के ही अनुरूप होगा। वह भला अपनी तुलना समुद्र के साथ कैसे कर सकती है? इसी बात को आचार्य शकर ने दूसरे ढग से कहा है। उन्होंने भगवान के अनेक रूपों के अनेक स्तोत्र भी लिखे हैं। भगवान ने ही मानो उनसे पूछा, "तुम तो अद्वैत वेदान्ती हो, फिर मेरी स्तुति आदि क्यों करते हैं?" इस पर वे कहते हैं –

सत्यापि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्।
सामुद्रो हि तरंगः क्वचन समुद्रो न तारंगः॥(विष्णुषट्पदी, ३)

– प्रभो, आप और मुझमें भेद भले ही न हो, पर इतना भेद तो है ही कि मैं आपका अश हूँ और आप मेरे अश नहीं हैं। यों तो समुद्र और तरग अभिन्न हैं, पर कहा तो यही जाता है कि समुद्र की तरग है, यह कोई नहीं कहता कि तरग का समुद्र है।

इसे दोनों की दृष्टियों से देखा जा सकता है। भगवान ने लक्ष्मणजी के समक्ष बूँद का दृष्टान्त रखा। इसमें अभिप्राय यह है कि बूँद कुछ समय के लिये समुद्र से अलग-सी हो जाती है। जीव जब माया के सस्पर्श का अनुभव करता है और उसमें मलिनता आ जाती है, तब वह ईश्वर से अलग प्रतीत होने लगता है। पर यह मलिनता शाश्वत सत्य नहीं है। अन्त में उसका पुनः परिस्कृत होने का उपाय है। क्या उपाय है? यही कि सारी बूँदे इकट्ठी होकर नदी में चली जायँ और नदी की धारा के रूप में बहती हुई समुद्र की ओर चली जायँ। नदी की वह धारा ज्यों ही समुद्र में समा जायेगी, भगवान कहते हैं –

सरिता जल जलनिधि महुँ जाई।
होइ अचल जिमि जिव हरि पाई॥४/१४/८

बस यही जीव और ईश्वर का सम्बन्ध है। यह जो साधन तत्त्व है, उसमें जीव की मलिनता आगन्तुक है और उस आगन्तुक मलिनता को मिटाने का सर्वश्रेष्ठ उपाय क्या है? एक बात निश्चित रूप से कही जा सकती है कि मन के रोगों की चाहे लाख दवा की जाय, चिकित्सा की जाय, उसमें कुछ समय के लिये तो स्वस्थता की अनुभूति हो सकती है, लेकिन जब तक व्यक्ति अपने आप को भगवान में विलीन नहीं कर देता, तब तक वह पूरी तरह से शाश्वत स्वस्थता प्राप्त नहीं कर सकता। इसलिये उसकी अन्तिम परिणति यही होगी कि

व्यक्ति भक्ति का आश्रय लेकर स्वयं अपने आप को भगवान के चरणों में अर्पित कर दे। जब वह विलीनता की स्थिति आती है, तब उसकी सारी मलिनता दूर होकर चिर स्वस्थता की अनुभूति होती है। अभिप्राय यह है कि स्वस्थ होने का उपाय केवल रोग को जान लेना और दवा करना नहीं है, बल्कि अपने आप को भगवान के चरणों में अर्पित कर देना स्वस्थ होने का उपाय है। भरतजी के चरित्र में साधना की जो भूमिका है, उसके माध्यम से यही तत्त्व प्रगट किया गया है। मूलसूत्र तो यही है जो भगवान राम कहते हैं –

भरतहि मोहि कछु अंतर काऊ॥ ७/३६/७

भरत में और मुझमें कोई भेद नहीं है। पर भेद बन गया है, दिख रहा है। यह अन्तर कैसे बन गया? इसका उत्तर कथा के रूप में आता है। कैकेयी के अन्तःकरण में श्रीभरत और श्रीराम में कोई भेद नहीं था। देखकर ऐसा लगता था कि कैकेयी भेदबुद्धि से परे है। लेकिन वहाँ पर एक भेदबुद्धि विद्यमान है। इस अद्वैत तत्त्व में, श्रीभरत और श्रीराम की अभिन्नता में, द्वैत की सृष्टि करने वाली कौन है? वह है मन्थरा। प्रतीकात्मक रूप में यह मन्थरा क्या है, इस पर तो लम्बा विश्लेषण हो सकता है, परन्तु एक सूत्र मैं आपको दे ही दूँ।

प्रतीकों के सम्बन्ध में आप अपने मन में यह निश्चित धारणा बना लीजिये कि अलग अलग सन्दर्भों में प्रतीक के अर्थ बदल जाते हैं। जैसे कभी आपने मुझसे ही सुना होगा कि यह मन्थरा लोभ की प्रतीक है। अब किसी अन्य सन्दर्भ में मैं उसे सशय या भेदवृत्ति का प्रतीक कहूँ, तो आप चौंकिए मत। यद्यपि यह मनमाने अर्थ लगाने जैसी बात लगती है, पर यदि उसका सूत्र ध्यान में रखें, तो समझने में कठिनाई नहीं होगी। यह जो प्रतीकों का अर्थ अलग अलग सन्दर्भों में किस प्रकार बदल जाते हैं, इसके कुछ उदाहरण आपके सामने रखूँ।

'मानस' में भगवान राम, श्री लक्ष्मण तथा सीताजी को गोस्वामीजी प्रतीकात्मक रूप में क्या देखते हैं? वही सूत्र है। एक जगह तो वे कहते हैं कि श्रीराम, सीताजी और लक्ष्मणजी मानो मूर्तिमान ज्ञान, भक्ति और वैराग्य के प्रतीक हैं –

सानुज सीय समेत प्रभु राजत परन कुटीर।
भगति ग्यानु बैराग्य जनु सोहत धरें सरीर॥ २/३२१

अब इन्हें अगर किसी दूसरे सन्दर्भ में, किसी दूसरे प्रतीक के रूप में प्रस्तुत कर दें, तो कोई चौंकने की बात नहीं है। भगवान राम, लक्ष्मण और सीताजी वन के मार्ग से चले जा रहे हैं। लोग उनके सौन्दर्य को देख रहे हैं। गोस्वामीजी ने उसे एक दार्शनिक पुट दे दिया। हम-आप तो जब किसी की सुन्दरता को देखते हैं, तो आँख और मन के सयोग से देखते हैं, परन्तु वहाँ जो लोग श्रीराम, लक्ष्मण और सीताजी के सौन्दर्य को देख रहे हैं, वे भी क्या नेत्र और मन से ही देख रहे हैं? गोस्वामीजी कहते हैं, नहीं। ससार की सुन्दरता और भगवान की सुन्दरता में यही तो अन्तर है। यह एक विशेष बात है। ससार की सुन्दरता को केवल नेत्र और मन से देखिए, तो बड़ा आनन्द आता है, पर थोड़ी बुद्धि से भी देखें, तो उसमें बीभत्सता ही बीभत्सता दिखाई देगी। ससार की सुन्दरता में हम कभी अपनी बुद्धि नहीं लगाते। जो शरीर हमें बड़ा सुन्दर दिखाई देता है, उसकी सरचना को अगर हम बुद्धि से देखें, तो वह गन्दगी का इतना बड़ा केन्द्र दिखाई देगा कि उसे सुन्दर मान ही नहीं पायेंगे। जो व्यक्ति अपनी बुद्धि का परित्याग कर, चित्त से अलग हटकर, केवल मन और इन्द्रियों से ही ससार को देखते हैं, वे ही संसार में मुग्ध रहते हैं। पर क्या ईश्वर की सुन्दरता भी इसी प्रकार की है? ईश्वर भी सगुण-साकार होकर बड़ा सुन्दर होता है, पर उसकी सुन्दरता भी मन से देखने की वस्तु है क्या? गोस्वामीजी कहते हैं कि भगवान की सुन्दरता मन से भी देखने की वस्तु है, पर उसमें एक नई विशेषता है। क्या? बोले –

सब चितवहिं चित मन मति लाई॥२/११६/२

जो देखनेवाले हैं, वे मन से देख रहे हैं, बुद्धि से देख रहे हैं और चित्त से देख रहे हैं। अब इसका अभिप्राय क्या है? श्रीराम तीनों मनोभूमियों में हैं। चित्त में बैठकर देखिए तो कुछ और दिखाई देते हैं, बुद्धि में बैठकर देखें तो कुछ और, और मन में बैठकर देखिए तो कुछ और। इसीलिए यहाँ पर गोस्वामीजी भगवान राम, लक्ष्मण और सीताजी को प्रतीकात्मक रूप देते हुए कहते हैं –

आगें रामु लखनु बने पाछें।
तापस बेष बिराजत काछें॥
उभय बीच सिय सोहति कैसें।
ब्रह्म जीव बिच माया जैसें॥ २/१२३/१

वे ज्ञान, भक्ति, वैराग्य के भी प्रतीक हैं और ब्रह्म, जीव, माया के भी। यद्यपि बात बड़ी अटपटी-सी लगती है कि श्रीसीताजी को भक्ति माने कि माया? अभी इसकी व्याख्या का समय नहीं है, यह तो केवल एक दृष्टान्त आपके सामने रखा कि प्रतीक का अर्थ कैसे बदलता है? आगे चलकर गोस्वामीजी कहते हैं –

बहुरि कहउँ छबि जसि मन बसई।
जनु मधु मदन मध्य रति लसई॥ २/१२३/३

फिर भी सन्तोष नहीं हुआ, तो कहा –

उपमा बहुरि कहउँ जियँ जोही।
जनु बुध बिधु बिच रोहिनि सोही॥ २/१२३/४

अलग अलग सन्दर्भ में जिस भावभूमि में बैठकर आप देखिएगा, उस मनोभूमि में ईश्वर आपको उसी रूप में दिखाई देगा। इसी तरह से यह मन्थरा जहाँ कर्म के सन्दर्भ में लोभ का प्रतीक है, वहीं भक्ति के सन्दर्भ में सशय का और ज्ञान के सन्दर्भ में भेदबुद्धि का। इसका अभिप्राय यह है कि यदि ज्ञानी विचार करके देखेगा तो लगेगा कि मन्थरा भेदबुद्धि है। भक्त अगर विचार करके देखेगा तो लगेगा कि मन्थरा सशयात्मिका बुद्धि है और कर्मयोगी विचार करके देखेगा तो लगेगा कि मन्थरा लोभ की वृत्ति है। तीन रूप हैं मन्थरा के और तीनों की सार्थकता है। जिस साधना में आप हैं, उसी सन्दर्भ में विचार करके देखिए। कर्मयोग के साधक देखें, कर्म की सबसे बड़ी समस्या लोभ है। लोभ के साथ फलाकाक्षा जुड़ी हुई है। इस रूप में कर्मयोगी को भी इस मन्थरा से सावधान रहना चाहिये। और भक्ति की सबसे बड़ी समस्या है सशय –

बिनु बिस्वास भगति नहिं तेहि बिनु द्रवहिं न रामु।
राम कृपा बिनु सपनेहुँ जीव न लह बिश्रामु॥ ७/९०

यदि आप कर्मयोगी से पूछें कि मन्थरा ने यह अनर्थ कैसे किया, तो वह यही कहेगा कि उसने कैकेयी के मन में लोभ उत्पन्न कर दिया। कैकेयी के मन में अगर लोभ न आया होता, तो यह अनर्थ होता ही नहीं। यह भी ठीक है, परन्तु यही बात यदि भक्त से पूछें, तो भक्त कहेगा कि लोभ आने के बाद भी कुछ न बिगड़ता, यदि कैकेयी के मन में राम के प्रेम के प्रति सशय न आता। उसे जो यह विश्वास था कि राम मुझे सबसे अधिक चाहते हैं, यह विश्वास यदि बना रहता, तो यह अनर्थ न होता। इसलिये सारी समस्या विश्वास की कमी और सशय से ही उत्पन्न हुई। अब ज्ञानी इसे किस दृष्टि से देखता है? उसकी दृष्टि में इस समस्या के मूल में है भेददृष्टि। कैकेयी के मन में अगर भरत और राम के बीच भेद उत्पन्न न हुआ होता, अपने-पराये का भेद न आया होता कि राम कौशल्या का बेटा है और भरत मेरा, तो यह अनर्थ न हुआ होता। इस प्रकार तीन अलग सन्दर्भों में मन्थरा के ये तीन रूप हैं – प्रलोभन, सशय और भेद। जीव और ईश्वर के सन्दर्भ में वह भेदबुद्धि है। जिन श्रीभरत और श्रीराम में इतना ऐक्य है, जो देखने में भी इतने एक जैसे दिखते हैं कि रामायण में लिखा हुआ है –

भरतु रामही की अनुहारी।
सहसा लखि न सकहिं नर नारी॥ १/३११/६

श्रीभरत और श्रीराम देखने में इतने एक जैसे हैं कि अयोध्या के नर-नारी, जो नित्य उन्हें देखते हैं, वे भी पहचानने में चूक जाते हैं कि कौन राम है और कौन भरत। जिनमें इतनी समानता थी, उनमें भी जिसने भेदबुद्धि उत्पन्न कर दी, वह है मन्थरा। वह कैकेयी के चित्त में भेदबुद्धि उत्पन्न कर देती है और कैकेयी उसे स्वीकार कर लेती है। परिणाम क्या होता है? कैकेयी अविद्या-रूपिणी मन्थरा से ग्रस्त हो जाती हैं। इसीलिये आगे चलकर वर्णन आता है कि जब महाराज दशरथ से कैकेयी का वार्तालाप हुआ और रामराज्य बनते बनते राम के वनवास की बात आ गई, तो गोस्वामीजी से कहा गया कि महाराज दशरथ की यह दशा क्यों हुई?

कवनें अवसर का भयउ गयउँ नारि बिस्वास।
जोग सिद्धि फल समय जिमि जतिहि अबिद्या नास॥ २/२९

जैसे कोई योगी अपनी साधना की चरम अवस्था में सफलता तक पहुँच रहा हो और उसे अविद्या के द्वारा नष्ट कर दिया जाय, ऊपर से नीचे गिरा दिया जाय, उसी प्रकार इस अविद्यारूपी मन्थरा ने कैकेयी को ग्रस लिया और रामराज्य नहीं बन पाया। यह रामराज्य क्या है? यह चरम सिद्धि है। इसीलिये गोस्वामीजी ने 'नाम मन्थरा मन्दमति' कहकर उसके अविद्यारूप की ओर संकेत किया है। इस अविद्या के दो रूप हैं। कहा जाता है कि मन्थरा के सिर में सरस्वती बैठ गई थीं। इसका अर्थ क्या है?सरस्वती दोनों काम करती है। विद्या पढ़ने से कई बार तो भेद मिट जाता है, परन्तु कई बार बढ़ भी जाता है। इसलिये विद्या के भी दो भेद कहे गये हैं – परा विद्या और अपरा विद्या। जो भेद की सृष्टि करे, वह तो अविद्या ही है। यह अविद्या मन्थरा है, जो श्रीभरत और श्रीराम में भेद और दूरी उत्पन्न करती है। इसका परिणाम यह होता है कि जो भरत राम से अभिन्न है, वह राम से दूर दिखाई देने लगते हैं।

श्रीभरत ननिहाल में हैं। लौटकर जब अयोध्या आते हैं, तो भगवान राम चित्रकूट में हैं। इस दूरी के बाद श्रीभरत के चरित्र में मिलन की भूमिका आती है। उनके चरित्र में विषाद भी आया, हर्ष भी आया परन्तु एक अन्तर है, विषयी का हर्ष-विषाद सासारिक वस्तुओं के लिये होता है, परन्तु साधक के जीवन में हर्ष-विषाद अन्य कारणों से आते हैं। इसका सीधा-सा तात्पर्य है कि जब अपने मन के अनुकूल वस्तुओं को पाकर हर्ष हो और अपनी प्रिय वस्तु के छूटने में विषाद हो, तो वह व्यक्ति विषयी है। श्रीभरतजी के जीवन में ठीक इससे उल्टी बात है। श्रीभरत जब ननिहाल से अयोध्या आए, तो कैकेयी सोने की थाल में आरती सजाकर भरत की आरती करने आईं। कैकेयी हर्षित हैं, बड़ी प्रसन्न हैं। क्यों? गोस्वामीजी ने बड़ी कठोर उपमा दी। बोले –

कैकेई हरषित एहि भाँती।
मनहुँ मुदित दव लाइ किराती॥ २/१५९/५

जैसे कोई किरातिन वन में आग लगाकर प्रसन्न हो जाती

है, उसी प्रकार कैकेयी प्रसन्न हो रही है । और मन्थरा? रामराज्य का समाचार सुनते ही उसे ईर्ष्या हो गई राम से, कौशल्या से । राम और कौशल्या के सुख की कल्पना मात्र से उसकी छाती जलने लगी और तब उसके मन में कौशल्या और राम के सुख को उजाड़ देने की कुटिल दुष्टता की वृत्ति आई । यही क्रम है । इसीलिए गोस्वामीजी ने मन के रोगों का वर्णन करते हुए, इसे इसी क्रम से रखा है –

ममता दादु कंडु इरषाई ।
हरष बिषाद गरह बहुताई ।
पर सुख देखि जरनि सोइ छई ।
कुष्ट दुष्टता मन कुटिलई ॥ ७/१२१/३३-३४

ईर्ष्या की तुलना वे शरीर में होने वाले खुजली से करते हैं । मन्थरा को पहले ईर्ष्या की खुजली हुई । फिर कहते हैं – **पर सुख देखि जरनि सोइ छई** - दूसरों का सुख देखकर जो जलन होती है, उसकी तुलना यक्ष्मा (टी.बी.) रोग से करते हैं । खुजली के बाद मन्थरा को अब यह क्षयरोग हो गया । उसका हृदय जलने लगा । क्षयरोग में भी छाती में जलन होती है न! और अन्त में उसे हो गया – **कुष्ट दुष्टता मन कुटिलई** – दुष्टता और कुटिलता रूपी कोढ़ । अब देखिए, मन्थरा का चरित्र बडा जटिल है । जिस व्यक्ति को खाज हुआ हो, उसे अगर कोढ़ भी हो जाय, टी.बी. भी हो जाय, तो जो चिकित्सक हैं, वे समझ सकते हैं कि ऐसे रोगी का रोग कितना जटिल हो जाता है । कहावत भी है – कोढ़ में खाज । यह एक भयकर स्थिति है । परन्तु मन्थरा के चरित्र में यह दिखाई देता है । उसमें ईर्ष्या है, जलन है, दुष्टता है और कुटिलता भी है । अब अगर उसे प्रतीकात्मक रूप में देखें तो उसके कितने रूप हैं? और यह जीवन का भी सत्य है । व्यक्ति के मन में जब ईर्ष्या आती है, तब वह अकेले थोड़े ही आती है! जहाँ ईर्ष्या है, वहाँ – **पर सुख देखि जरनि सोइ छई** – भी है । तपेदिक भी हो जाता है । दूसरों के सुख को देखकर हमें ईर्ष्या होती है, उसे हम पाने की चेष्टा करते हैं । पर जब नहीं पाते तो जलन होने लगती है । खुजली आगे बढ़कर यक्ष्मा हो जाता है । **पूछेसि लोगन्ह काह उछाहू** – मन्थरा ने पूछा कि नगर क्यों सजाया जा रहा है? लोगों ने कहा – रामराज्य होनेवाला है । यदि किसी ने यह कहा होता कि तुम्हारी नौकरी छूटनेवाली है और सुनकर वह दुखी हो जाती, तो वह स्वाभाविक होता । तब उसे कौन दोष देता? पर उसे समाचार मिला कि राम को राज्य मिलनेवाला है, इस समाचार से तो उसे कोई हानि नहीं है । पर गोस्वामीजी ने कहा कि वह तो यक्ष्मा की रोगिणी है, क्षयरोग से पूरी तरह से ग्रस्त है –

पूछेसि लोगन्ह काह उछाहू ।
राम तिलकु सुनि भा उर दाहू ॥ २/१३/२

उसका हृदय जलने लगा । यह है मन का यक्ष्मारोग और यह रोग बड़ा सक्रामक भी है । यह क्षयरोग ग्रस्त मन्थरा जब कैकेयी के पास गई, तब कैकेयी बिल्कुल स्वस्थ दिखाई दे रही थी, परन्तु थोड़ी ही देर की बातचीत से मन्थरा का रोग कैकेयी के अन्तःकरण में ऐसा पैठा कि वे सारे लक्षण क्षयरोग के, जो मन्थरा में थे, कैकेयी में भी दिखाई देने लगे ।

कैकेई हरषित एहि भाँती - माने? दूसरों को कष्ट देकर जब मन में हर्ष हो, तो इससे बढ़कर घातक स्थिति और क्या हो सकती है? यही कुटिलता और दुष्टता की पराकाष्ठा है । जैसे शरीर के रोगों में कोढ होता है । मन्थरा ने इन सारी वृत्तियों को कैकयी के भीतर पैठा दिया । सारी अयोध्या के लोग विलाप कर रहे हैं, रो रहे हैं, परन्तु कैकेयी को भरत का आगमन सुनकर हर्ष हो रहा है । महाराज दशरथ की मृत्यु से उन्हें विषाद नहीं हुआ, पर भरत राज्य पावेंगे, इसका उन्हें हर्ष है । इतना बड़ा अनर्थ कर दिया, राम वन चले गये, महाराज दशरथ की मृत्यु हो गई, परन्तु उन्हें अपराध-बोध नहीं हो रहा है । कहती हैं – चलो अच्छा हुआ, महाराज दशरथ सत्यवादी के रूप में अमर हो गये । मृत्यु तो होना ही था, पर यह सार्थक मृत्यु है । एक तरह से मैंने उनका यश बचा लिया । मैंने यदि उन्हें सत्य के लिये प्रेरित नहीं किया होता, तो वे सत्य से वंचित हो जाते और उनकी बडी अपकीर्ति होती । इस प्रकार की कुटिलतापूर्ण वृत्ति के कारण न उन्हें पश्चाताप हो रहा है, न विषाद, बल्कि वह अपने इस कार्य को बडा श्रेष्ठ मान रही है । सब दुखी हैं, पर अकेली कैकेयी प्रसन्न है । भरत को देखकर हर्षित हो उठती है -

कैकेई हरषित एहि भाँती ।
मनहुँ मुदित दव लाइ किराती ॥ २/१५९/५

पर भरत? – **सुतहि ससोच देखि मन मारें** – उनके मुखमण्डल पर विषाद है । क्यों? भरतजी के स्वभाव में साधुता है । जब उन्होंने पूरी अयोध्या में सबको दुखी देखा, तो दुखी हो गये । जो समाज के दुख को देखकर दुखी नहीं होगा, उसे दूसरों के दुख को मिटाने की प्रेरणा कहाँ से मिलेगी? परन्तु कैकेयी की भावभूमि क्या है? भरतजी को उदास देखकर उन्हें क्या लगा? गोस्वामीजी ने कैकेयी के मनोभूमि का परिचय दिया । कैकेयी ने भरत को उदास देखकर पूछा –

सुतहि ससोच देखि मनु मारें ।
पूँछति नैहर कुसल हमारें ॥ २/१५९/६

पूरे अयोध्या की प्रजा रो रही है, इसकी चिन्ता उन्हें नहीं है । उन्हें चिन्ता इस बात की है कि भरत अभी अभी ननिहाल

से लौटे हैं, भरत की उदासी का एक ही कारण हो सकता है और कैकेयी को बस उसी की चिन्ता है कि हमारे नैहर में तो सब कुशल हैं न! बस, वहीं ठीक रहना चाहिये, यहाँ वालों ने तो बड़ी गड़बड़ी पैदा कर दी है। पर श्रीभरत की वृत्ति क्या है? श्रीभरत दुखी हैं अयोध्या के दुख से। भरतजी में भी विषाद की वृत्ति आती है। कब आती है? जिस बात से कैकेयी के मन में इतना हर्ष है, वही श्रीभरत के सबसे बड़े विषाद का कारण है। यही अन्तर है और यही साधक का लक्षण है। भरतजी ने पूछा - माँ, अयोध्या में यह अनर्थ क्यों हुआ? पिताजी कहाँ हैं? प्रभु कहाँ हैं? कैकेयी ने तुरन्त कहा –

> आदिहु तें सब आपनि करनी।
> कुटिल कठोर मुदित मन बरनी॥ २/१६०/८

और कह दिया – **तात बात मैं सकल सँवारी** – काम तो बहुत बिगड़ रहा था, पर मैंने सारा सम्भाल लिया। कैकेयी ने सोचा कि आगे चलकर मन्थरा को भी ईनाम दिलवाना है, तो अभी से भूमिका बना दें। कहा –

> **तात बात मैं सकल सँवारी।**
> **भै मंथरा सहाय बिचारी॥ २/१६०/१**

उस बेचारी ने भी बड़ी सहायता की है, कहीं उसे भूल न जाना। इसके बाद उन्होंने कहा, तुम जानते हो! तुम्हें राज्य दिलाने के लिये मुझे क्या क्या नहीं करना पड़ा? भरतजी ने सब सुना, परन्तु सुनते ही वे गहरे विषाद में डूब गये। उनको अयोध्या का विशाल राज्य मिल रहा है, पर उन्हें हर्ष के स्थान पर विषाद हो रहा है। इसी तरह उनमें हर्ष भी है, पर उनके हर्ष तथा विषाद की भूमिका अलग है। इस विषय में उनकी दृष्टि, उनकी मान्यता अलग है। कैकेयी बोली – भरत, अयोध्या का राज्य ले लो, इससे बढ़कर हर्ष की बात क्या होगी?

श्रीभरत कहते हैं कि पदलोलुप तो मैं भी हूँ, लेकिन मुझे हर्ष किस पद को पाने से होगा? वे कहते हैं –

> आपनि दारुन दीनता कहउँ सबहि सिरु नाइ।
> देखें बिनु रघुनाथ पद जिय कै जरनि न जाइ॥ २/८२

जो भौतिक पदार्थ पाकर हर्षित होता है, वह विषयी है और जो ईश्वर का पद पाने के लिये व्यग्र है, वह साधक है। साधक की भूमिका से भरतजी की यह यात्रा प्रारम्भ होती है। इस बात को सूत्र रूप में कह दूँ कि श्रीभरत की यह जो अयोध्या से चित्रकूट की यात्रा है, यही जीव और ब्रह्म के मिलन की यात्रा है। चित्रकूट चित्त की भूमि है –

> **रामकथा मंदाकिनी चित्रकूट चित चारु। १/३१**

योगाभ्यास में जो समाधि की चेष्टा है, उसमें अहं की सत्ता बिल्कुल समाप्त होकर द्वन्द्व से निवृत्त मानो वह निर्विकल्प की चरम अवस्था है। श्रीभरत की यह जो महानतम यात्रा होती है, वह अयोध्या से प्रारम्भ होकर चित्रकूट में समाप्त होती है। अयोध्या बुद्धि की भूमि है और चित्रकूट चित्त की। साधना का प्रारम्भ मन से ऊपर उठकर बुद्धि में , बुद्धि से ऊपर उठकर चित्त में और चित्त में जाकर 'अहं' विलीन हो जाता है, यही साधना की समग्रता है। श्रीभरत की यह यात्रा एक साधक की भूमिका है, एक साधक का साधना-पथ है। यहाँ पर गोस्वामीजी एक सूत्र दे देते हैं कि इस यात्रा में भरतजी के मन में हर्ष भी है और विषाद भी। पर सूत्र वही है। विषयी का हर्ष-विषाद ससार से जुड़ा हुआ है और साधक का भगवान से। भरतजी को हर्ष इसलिये होता है कि भगवान के दर्शन होंगे। पर जब उन्हें अपनी माँ की करनी याद आती है, अपने दोष को देखते हैं, तो यह सोचकर विषादग्रस्त हो जाते हैं कि मुझ पापी को आते सुन प्रभु कहीं अन्यत्र तो नहीं चले जायेंगे? –

> **फेरति मनहुँ मातु कृत खोरी।**
> **चलत भगति बल धीरज धोरी।**
> **जब समुझत रघुनाथ सुभाऊ।**
> **तब पथ परत उताइल पाऊ॥ २/२३४/५-६**

जब भगवान के स्वभाव की याद करते हैं, तो हर्षित होकर तेजी से चलने लगते हैं और जब अपनी ओर देखते हैं, तो विषादग्रस्त हो जाते हैं और उनकी गति धीमी हो जाती है। इस तरह से बुद्धि की भूमि से यात्रा प्रारम्भ करके श्रीभरत जब चित्त की भूमि में प्रवेश करते हैं, तो साधना के सारे स्तर एक एक करके सामने आते हैं। पहले पर्वत का दर्शन होता है, फिर आश्रम का। आश्रम प्रवेश हुआ तब भगवान राम का दर्शन हुआ और तब भगवान राम से मिलन हुआ। ये भगवान से मिलन के साधनपथ के स्तर हैं, सोपान हैं। इसका क्रम यही है। पहले क्या दशा हुई? जब वन में आये तो उन्हें क्या अनुभूति हुई? गोस्वामीजी ने लिखा –

> ईति भीति जनु प्रजा दुखारी।
> त्रिबिध ताप पीड़ित ग्रह मारी॥
> जाइ सुराज सुदेस सुखारी।
> **होहिं भरत गति तेहि अनुहारी॥ २/२३५/३-४**

जैसे एक अकाल पड़े हुए देश की एक प्रजा किसी अच्छे राज्य में पहुँचकर जिस प्रकार सुख का अनुभव करता है, उसी तरह भरतजी भी चित्रकूट पहुँचकर आनन्द अनुभव करते हैं। लेकिन इस सुख को पा लेना ही अन्तिम लक्ष्य नहीं है। साधक जब ईश्वर की ओर बढ़ता है, तो सुख के अनेक प्रलोभन आते हैं, परन्तु उस सुख के प्रलोभन में रुकना नहीं है, उनको पार करते जाना है। इसीलिये भरतजी उस सुख से आगे बढ़ गये और तब वह पर्वत दिखाई दिया, जिस पर भगवान

का निवास है। और तब उन्हें कैसा सुख मिला? –

राम सैल सोभा निरखि भरत हृदयँ अति पेमु।
तापस तप फल पाइ जिमि सुखी सिरानें नेमु॥ २/२३६

भरतजी को ऐसा सुख मिला जैसे तपस्वी को तपस्या का फल पाकर मिलता है। पहले प्रजा का फल मिला, फिर तपस्वी का और जब उन्होंने आश्रम प्रवेश किया तो –

करत प्रबेस मिटे दुख दावा।
जनु जोगीं परमारथु पावा॥ २/२३९/३

यह सविकल्प समाधि की भूमिका है। इसके बाद आश्रम में प्रविष्ट होकर उन्होंने भगवान को देखा, तब यह चौथी अवस्था आ गयी। गोस्वामीजी ने कहा –

सानुज सखा समेत मगन मन।
बिसरे हरष सोक सुख दुख गन॥ २/२४०/१

अभी तक भरतजी के मन में हर्ष-विषाद की वृत्ति थी, परन्तु अब न हर्ष है न विषाद। श्रीभरत प्रणाम करते हैं और भगवान राम उन्हें उठाकर हृदय से लगा लेते हैं। हर्ष-विषाद नहीं है – इसका अभिप्राय क्या हुआ? गोस्वामीजी कहते हैं कि यह पूर्ण मिलन है। इसकी विशेषता क्या है? गोस्वामीजी ने सूत्र दे दिया –

परम पेम पूरन दोउ भाई।
मन बुधि चित अहमिति बिसराई॥ २/२४१/२

यह अन्तिम बात है। चित्त की भूमिका में आकर अहं का विलीन हो जाना। अह का पूरी तरह से ईश्वर में समर्पित होकर समाप्त हो जाना। जब तक मन की भूमि है. तब तक हर्ष-विषाद है। जब तक बुद्धि है, तब तक इस हर्प-विपाद, सुख-दुख से छुटकारा नहीं मिल सकता। जब तक 'मैं' रहेगा, तब तक मन रहेगा। 'मैं' का मन रहेगा, 'मैं' की बुद्धि रहेगी और तब तक हर्ष-विषाद, सुख-दुख का क्रम चलता रहेगा। लेकिन जब साधक का मैं विलीन हो जाता है, जब भरतजी का व्यक्तित्व विलीन हो गया, भगवान के व्यक्तित्व में एकाकार हो गया, तब न तो भरत भरत हैं, न राम राम। रामायण तो यहीं समाप्त हो जाती, परन्तु बड़ी कृपा की केवट ने, जिन्होंने देखा कि यदि ये दोनों डूब गये, तो बेचारे संसारवाले संसार-सागर में ही डूब जायेंगे। तब उन्होंने श्रीभरत को प्रभु से अलग किया।

यह सन्त की भूमिका है। इसका अभिप्राय यह है कि श्रीभरत लोक-कल्याण के लिये पुनः व्यवहार की भूमिका स्वीकार करते हैं। परन्तु इस दिव्य मिलन में श्रीभरत हर्ष-विषाद से मुक्त हो जाते हैं। इसका सीधा-सा तात्पर्य यह है कि मानस-रोगों का समग्र उपशमन मन, बुद्धि, चित्त, अहकार के रहते नहीं हो सकता। इस हर्ष-विषाद से मुक्ति नहीं मिल सकती। इससे मुक्ति तो बिना ईश्वर प्राप्ति के नहीं हो सकती। इसका तात्पर्य यह है कि सारे कामकाज करते हुए भी मन के दोषों को देखकर उसके निराकरण के लिये हमें यह सकल्प करना होगा कि चित्रकूट चलकर भगवान से मिलें।

अब अगर कोई यह कहे कि हम समाज की सेवा करें और भगवान को न माने तो क्या हानि है? इस पर तो मैं यही कहूँगा कि भाई, यह तो उसी तरह की बात है कि जैसे किसी व्यक्ति को टी.बी. हो गया हो और वह समाज की सेवा करना चाहे। क्या सेवा करेंगे? बोले – लोगों को पानी पिलावेंगे। अब वह जब पानी पिलाएगा, तो अपना रोग भी तो उसके साथ पिलाएगा। ये जितने सेवक हैं, वे मन के रोगों से ग्रस्त होते हैं और जब वे सेवा करते हैं, तब अपना रोग भी बाँटते हैं। इन सब सेवकों के द्वारा रोग ही तो फैल रहा है न! समाज का अकल्याण ही तो हो रहा है। श्री भरत ने कहा – नहीं, चित्रकूट से लौटे बिना अयोध्या का राज्य नहीं चलेगा। जब तक भगवान से मिलन की अनुभूति नहीं हो जाती, तब तक हमारा मन स्वस्थ नहीं होगा और तब तक समाज की सेवा सच्ची सेवा नहीं होगी। इसलिये मानस-रोगों के सन्दर्भ में अन्त में मैं रोगों की चर्चा को छोड़ दवा की ही चर्चा करूँ, जिससे समापन मधुरता से हो। गोस्वामीजी ने अन्त में यही कहा – **रघुपति भगति सजीवन मूरी** – भक्ति ही इन समस्त रोगों की दवा है। समस्त रोगों का शमन भक्ति और भगवान के द्वारा ही होता है।

❖ (क्रमशः) ❖

माँ के सान्निध्य में (५५)

ब्रह्मचारी अशोक कृष्ण

(भगवान श्रीरामकृष्ण की लीला-सहधर्मिणी माँ श्री सारदा देवी का जीवन दैवी-मातृत्व का जीवन्त-विग्रह था । उनके प्रेरणादायी वार्तालापों के संकलन रूप मूल बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर कथा' से रामकृष्ण मठ, इलाहाबाद के स्वामी निखिलात्मानन्द जी द्वारा किया हुआ हिन्दी अनुवाद हम अनेक वर्षो से प्रकाशित कर रहे हैं । इसी बीच अब तक प्रकाशित अधिकांश अंशों का 'माँ की बातें' नाम से पुस्तकाकार प्रकाशन भी हो चुका है । प्रस्तुत है उसी ग्रन्थ के प्रथम भाग से आगे के अप्रकाशित अंशों का अनुवाद । – सं.)

श्री माताजी की अन्तिम बीमारी के समय एक दिन प्रात:काल म उनका दर्शन करने गया था । उस समय कमरे में और कोई नही था । माँ सबसे दक्षिण की ओर वाले कमरे में थीं । उनका स्वास्थ्य कुछ दिनो से थोड़ा ठीक चल रहा था । दिन के समय उसी कमरे मे माँ का बिस्तर लगा दिया जाता था । चैत्र महीने का पहला सप्ताह चल रहा था । माँ को प्रणाम करते ही वे घर की सारी बाते पूछने लगीं ।

माँ को अत्यन्त बीमार देखकर मैं बोला,"माँ, आपका स्वास्थ्य इस समय काफी बिगड़ गया है । आपका इतना दुर्बल शरीर मैंने कभी नहीं देखा ।"

माँ ने कहा,"हाँ बेटा, खूब दुर्बल हो गया है । लगता है कि इस शरीर के द्वारा ठाकुर को जो कुछ कराना था, वह समाप्त हो चुका है । इस समय मन सर्वदा उन्हीं को चाहता है, अब और कुछ अच्छा नहीं लगता ।

"देखो न, पहले मैं राधू से इतना स्नेह करती थी, उसकी सुख-सुविधा के लिये कितना कुछ करती थी, परन्तु अब मेरा भाव बिल्कुल पलट गया है । उसके सामने आने पर मुझे परेशानी का बोध होता है; लगता है – क्यों वह सामने आकर मेरे मन को नीचे उतारने का प्रयास कर रही है? इतने दिनों तक इन्हीं सब के माध्यम से ठाकुर ने अपने कार्य के लिये मेरे मन को नीचे उतार रखा था । नहीं तो फिर उनकी महासमाधि के बाद क्या मेरा रहना सम्भव हो पाता?"

मैं – माँ, आपके ऐसा कहने पर हम लोगों को बड़ा कष्ट होता है । आप यदि चली जायँ, तो फिर हम लोगों का क्या होगा? हम लोगों में त्याग-तपस्या का विशेष अभाव है । वैराग्य तो लगभग नहीं के बराबर ही है । आपके न रहने पर हम लोग किसके बल से महामाया के इस राज्य में जीवित रहेंगे? मन मे जब भी कोई दुर्बलता आई है, तब तब आपको बताकर उससे बचने का रास्ता मिला है । परन्तु अब हम लोग कहाँ जायेंगे? हम लोगों को तो बिल्कुल ही निराश्रय हो जाना पड़ेगा ।

माँ (दृढ़ता के साथ) – क्या! तुम लोग निराश्रय क्यों होओगे? ठाकुर क्या तुम लोगों का भला-बुरा देख नहीं रहे हैं? इतनी चिन्ता क्यो करते हो? तुम लोगों को तो मैंने उनके चरणो मे सौंप दिया है ।

तुम लोगों को एक दायरे के भीतर ही घूमते रहना होगा, उसके बाहर कहीं भी नहीं जा सकते । वे सर्वदा तुम लोगों की रक्षा कर रहे हैं ।

मैं – ठाकुर की दया का बारम्बार स्मरण होने पर भी सर्वदा वह ठीक से समझ में नहीं आता । कभी कभी विश्वास होता है और कभी कभी सन्देह भी आता है । आपको मैंने साक्षात् देखा है, भली-बुरी बहुत-सी बातें कही है, आपने भी उसके भले-बुरे पर विचार करके, जब जैसा चलने से मेरा भला होगा, बता दिया है । इससे मुझे विश्वास हो गया है कि मुझे आपका आश्रय मिला है ।

माँ बोलीं, "सर्वदा स्मरण रखना कि ठाकुर ही तुम्हारे एकमात्र रक्षक हैं । इसे भूल जाने पर सब कुछ गुड़-गोबर हो जायेगा । जानते हो, आज मैंने तुम्हारे घर के बारे में इतना सब क्यों पूछा? मैंने पहले ही गणेन के मुख से तुम्हारे पिता की मृत्यु का समाचार सुना था । मैंने उससे पूछा – तुम्हारी माँ के और कौन हैं, खाने की व्यवस्था है कि नहीं, तुम्हारे न रहने पर उनका काम चलेगा या नहीं; और जब मैंने सुना कि तुम्हारे न रहने पर भी उनका काम चल जायेगा, तो मन में आया 'चलो, लड़के में थोड़ी सद्बुद्धि आई है, ठाकुर की इच्छा से उसके सन्मार्ग में अधिक बाधाएँ नहीं पड़ेंगी ।'

"सब लोगों के लिये माँ की सेवा करना उचित है और तुम लोगों के लिये विशेष रूप से, क्योंकि सबकी सेवा करने के लिये यहाँ आए हो । तुम्हारे पिता यदि रुपये नहीं छोड़ जाते, तो फिर मैं तुम्हें रुपये कमाकर माँ की सेवा करने को कहती । परन्तु ठाकुर की इच्छा से वे तुम्हारे लिये कोई जिम्मेदारी नहीं छोड़ गये हैं । तुम्हें केवल इतना ही देखना होगा कि एक महिला के हाथ से धन की बर्बादी न हो । यह क्या कम सुविधा की बात है? भले उपायों से मनुष्य रुपये नहीं कमा सकता और वह भी मन को मलिन कर देता है । इसीलिये तुमसे कहती हूँ कि रुपये-पैसों का मामला जितना जल्दी सम्भव हो, निपटा डालो । ज्यादा दिन उन सब में पड़े रहने से उसके प्रति मोह हो जायेगा । रुपया ऐसी ही चीज है! शायद तुम सोचो कि उसके प्रति मेरी आसक्ति नहीं है; एक बार जब छोड़ सका हूँ तो दुबारा उससे मोह नहीं होगा, जब इच्छा होगी लौट आऊँगा । परन्तु ऐसा कदापि मत सोचना । वह (आसक्ति)

किस बहाने आकर तुम्हारा गला पकड़ लेगी, तुम समझ नहीं सकोगे । और विशेष करके तुम कलकत्ते के लड़के तो रुपयों के साथ खेलना जानते हो । जितना जल्दी हो सके माँ की व्यवस्था करके कलकत्ते से भाग जाओ और माँ को यदि कोई तीर्थस्थान में ले जा सको, तो वहाँ दोनों माता-पुत्र का सम्पर्क भूलकर भगवान को खूब पुकारना । ऐसा होने से बड़ा अच्छा रहेगा, क्योंकि इस शोक के समय तुम्हारी माँ के मन में बड़ा कष्ट है । तुम्हारी माँ की तो काफी आयु हो गयी है । उन्हें खूब समझाना । माँ के साथ यही सब बातें करना ।

"माँ के परलोक-पथ के लिये कुछ संचय करने में सहायता कर सको, तभी तो तुमने ठीक ठीक पुत्र का कर्तव्य निभाया । उनके सीने का लहू पीकर तुम इतने बड़े हुए हो, कितना कष्ट उठाकर उन्होंने तुम्हारा पालन-पोषण किया है! उनकी सेवा करना तुम अपना सबसे बड़ा धर्म समझना । परन्तु यदि वे भगवान के पथ में बाधक हों, तो अलग बात है । एक बार तुम अपनी माँ को यहाँ ले आओ न, देखूँ कैसी हैं । यदि उचित लगा तो कुछ बोलूँगी । परन्तु खबरदार, माँ की सेवा के नाम पर कहीं सांसारिक विषयों में मत फँस जाना । एक विधवा के भरण-पोषण का ही तो सवाल है न! भला कितने रुपयों की आवश्यकता होगी! कुछ हानि उठाकर भी यदि शीघ्रतापूर्वक व्यवस्था हो जाय, तो उसके लिये प्रयास करना । ठाकुर तो रुपयों का स्पर्श तक नहीं कर पाते थे । तुम लोग उनके नाम पर निकले हो, सर्वदा उनकी बातों पर चिन्तन करना । रुपया ही दुनिया के सारे अनर्थों का मूल है । तुम लोगों की कच्ची आयु है, हाथ में रुपये रहने से ही मन में लोभ प्रगट होगा । अत: सावधान!"

मैं – मन में आया था कि एक दिन मैं अपनी माँ को आपके पास लाऊँगा । परन्तु आपके स्वास्थ्य को देखकर उन्हें लाने की इच्छा नहीं हो रही है ।

माँ – नहीं, नहीं, एक दिन ले आओ । कितने लोग तो आ रहे हैं । और स्वास्थ्य तो दिन-पर-दिन बिगड़ेगा ही । जल्दी-से-जल्दी ले आओ । प्रात:काल तबीयत उतनी खराब नहीं रहती । उस समय ला सकोगे? ज्यादा देरी मत करना, देरी होने से ये लोग आने नहीं देंगे ।

मैं – माँ, आपकी बात सुनकर मुझे बड़ा कष्ट हो रहा है। अपने शरीर के विषय में आप बारम्बार जो बातें कह रही हैं, इससे लगता है कि अब आपकी इसे रखने की इच्छा नहीं है।

माँ ने कहा, "इस शरीर का रहना या न रहना मेरे हाथ में नहीं है – उनकी जैसी इच्छा । तुम लोग इतने परेशान क्यों हो रहे हो? और फिर तुम लोग मेरे पास रहते भी भला कितने समय हो? कभी मठ में, तो कभी बाहर रहते हो । मेरे साथ रहने तथा बातचीत करने की भला कितने लोगों को सुविधा हो पाती है? तुम लोग तो कब कहाँ रहते हो, इसका समाचार तक नहीं देते ।"

मैं – हम लोगों को पास रहने की सुविधा भले ही न हो, परन्तु हमारे मन में यह विश्वास रहता है कि आप हैं और मन में जब भी कोई दुर्बलता आएगी, तो आपके पास आते ही वह दूर हो जायेगी ।

माँ – यदि ठाकुर इस शरीर को न भी रखें, तो भी क्या तुम्हें लगता है कि मैंने जिन लोगों का भार लिया है उनमें से किसी एक के भी बचे रहते मेरी छुट्टी होगी? मुझे उनके साथ ही रहना होगा, क्योंकि मैंने उनके भले-बुरे का भार जो लिया है । मंत्र देना क्या साधारण बात है! कितना बड़ा बोझ कन्धे पर उठा लेना पड़ता है । उन लोगों के लिये कितनी चिन्ता करनी पड़ती है । यही देखो न, तुम्हारे पिता का देहान्त हुआ और मेरा भी मन दुखी हो गया । मन में आया कि ठाकुर ने इस लड़के को फिर एक परीक्षा में डाल दिया! यही चिन्ता होती है कि कैसे वह इस कठिनाई से बाहर निकले ।

इसीलिये तो मैंने इतनी बातें कही । तुम लोग क्या सब कुछ समझोगे? यदि तुम लोग सब समझ पाते, तो मेरी चिन्ता का भार काफी घट जाता । ठाकुर विभिन्न लोगों के साथ विभिन्न प्रकार से खेल रहे हैं । और झेलना मुझे पड़ता है! जिन लोगों को मैंने अपना कहकर स्वीकार कर लिया है, उन्हें तो मैं अब छोड़ नहीं सकती ।

मैं – माँ, आपके न रहने पर मैं किसके पास जाऊँगा, क्या होगा – यह सोचकर बड़ा डर लगता है ।

माँ ने कहा, "क्यों, ये राखाल आदि लड़के क्या कम हैं? तुम्हारा तो राखाल के साथ बड़ा लगाव भी है । उससे पूछ लिया करना । और भला पूछोगे भी क्या! ज्यादा प्रश्न करना ठीक नहीं है । एक चीज तो हजम नहीं कर पाते, और मन में दस चीजें भरकर केवल यही सोचते रहते हो कि यह ठीक है या वह । जो चीज मिली है उसी में डूब जाओ । जप-ध्यान करना, सत्संग में रहना और अहंकार को बिल्कुल भी सिर न उठाने देना । देखते नहीं, राखाल का कैसा बालक-भाव है, अब भी मानो छोटा-सा शिशु हो! शरत् को ही देखो न, वह कितने झंझटों के बीच रहकर चुपचाप कितना काम करता है! वह साधु आदमी है, उसे इतना सब करने की क्या जरूरत है? ये लोग इच्छा करें, तो दिन-रात भगवान में मन लगाकर बैठे रह सकते हैं । केवल तुम लोगों के कल्याण हेतु ही अपने मन को नीचे उतारे रहते हैं । इन लोगों का चरित्र अपने नेत्रों के सामने रखना, इनकी सेवा करना और सर्वदा मन में सोचना कि मैं किसकी सन्तान हूँ, किसका आश्रित हूँ! जब भी मन में

कोई बुरा भाव उठे, तो मन से कहना – उनकी सन्तान होकर क्या मै ऐसा कार्य कर सकता हूँ? देखोगे कि इससे मन को बल तथा शान्ति मिलेगी।''

_श्रीमती... (अज्ञात)_

श्री माँ ने मुझे दीक्षा देने के बाद कहा था, ''देखो बेटी, बाल-विधवाओं को मंत्र नहीं देती, परन्तु तुम अच्छी हो, इसीलिये दिया है। देखो, कहीं मुझे डूबा न देना। शिष्य का पाप गुरु को भोगना पड़ता है। घड़ी के काँटे के समान सर्वदा इष्ट-मंत्र का जप करती रहना।''

एक बार और मेरे ससुराल जाते समय उन्होंने कहा था, ''किसी के साथ मेलजोल मत रखना। किसी के सांसारिक मामलों में रुचि मत लेना। कहना – रे मन, अपने आप में ही पड़ा रह, किसी अन्य के घर जाने की जरूरत नहीं। ठाकुर को नारियल के लड्डू बड़े प्रिय थे। गाँव जाकर वही बनाकर उन्हें भोग देना। उनकी सेवा तथा जप-ध्यान बढ़ाना और ठाकुर की पुस्तकें पढ़ती रहना।''

एक दिन केवल माँ और मैं थी, अन्य कोई नहीं था। माँ बोलीं, ''देखो बेटी, पुरुष-ज़ाति पर कभी भी विश्वास मत करना – दूसरे लोगों की तो बात ही क्या अपने स्वयं के बाप पर भी नही, भाई पर भी नहीं, यहाँ तक कि यदि स्वयं भगवान भी तुम्हारे सामने पुरुष-रूप धारण करके आयें, तो उन पर भी विश्वास मत करना।''

मठ या जिन स्थानों में साधु-संन्यासीगण निवास करते हैं, वहाँ अधिक जाने से वे मना किया करती थीं। कहतीं, ''देखो बेटी, तुम लोग तो अच्छे मन के साथ भक्तिपूर्वक ही जाओगी, परन्तु इससे यदि उनके मन को हानि हुई तो तुम्हें भी पाप लगेगा।''

उन्होंने जब-तब जिस-तिस के साथ तीर्थ जाने से मना किया था। कहा था, ''तुम्हारे हाथ में दो पैसे हों, तो दस-बीस ब्राह्मणो को खिला देना।'' एक भक्त महिला सामने बैठी थी, उन्हें दिखाती हुई वे बोलीं, ''इसी को देखो न, तीर्थ करने जाकर कैसा ठोकर खाकर आई है – 'तीर्थ-गमन व्यर्थ का भ्रमण करते हुए दुख उठाना मात्र है, अत: रे मन! चंचल मत होना; यदि घर में ही बैठकर (साधना) कर सको तो भ्रमण से ज्यादा फल पाओगे'।''

एक दिन भक्त-महिलाएँ मिलकर एक अन्य महिला की तरह तरह से आलोचना कर रही थीं। उसी समय माँ ने मुझसे कहा, ''तुम उसके प्रति भक्ति रखना, वही तो तुम्हें पहली बार यहाँ लायी थी।''

मैंने दूसरे का बच्चा लेकर उसे पालने की इच्छा व्यक्त की थी। इसके उत्तर में राधू के लिये अपनी अवस्था दिखाते हुए माँ ने कहा था, ''ऐसा काम मत करना। जिसके प्रति जैसा कर्तव्य है उसे किये जाना, परन्तु प्रेम एक भगवान को छोड़ और किसी से मत करना। प्रेम करने से बड़ा दुख उठाना पड़ता है।''

श्री माँ से मेरे मंत्र पाने की बात सुनकर हमारे कुलगुरु ने मुझे शाप दिया था। मैंने यह बात माँ को लिखकर सूचित किया था। उत्तर में माँ ने लिखा था, ''जो ठाकुर के शरणागत होता है, उसका ब्रह्म-शाप से भी कुछ नहीं होता। तुम्हें डरने की कोई जरूरत नहीं है।''

एक पुरानी महिला-भक्त ने मुझसे कहा था, ''मठ आदि में अब कुछ नहीं बचा है।'' यह बात जाकर मैंने माँ को बताया। इसे सुनकर माँ विस्मित होकर बोल उठीं, ''यदि धर्म अब भी कुछ बचा हो तो वह यहाँ और मठ में है।''

एक दिन एक भक्त-महिला के बारे में चर्चा करते हुए मैंने तथा नलिनी दीदी ने माँ से कहा था, ''पर उसके प्रति तो हमारे मन में किसी प्रकार के अभक्ति का भाव नहीं आता।''

माँ बोलीं, ''वह ठाकुर को पुकारती है न, इसीलिये। जो ठाकुर को पुकारता है, वह चाहे जैसा भी हो, उसके प्रति अभक्ति नहीं आती।'' ❖(क्रमश:)❖

सार्वभौमिक धर्म

धर्म-सम्बन्धी सभी सकीर्ण, सीमित, संघर्षरत धारणाओं को नष्ट होना चाहिए। सम्प्रदाय, जाति या राष्ट्र की भावना पर आधारित सारे धर्मों का परित्याग करना होगा। हर जाति या राष्ट्र का अपना अपना अलग ईश्वर मानना और दूसरों को भ्रान्त कहना, एक अन्धविश्वास है, उसे अतीत की वस्तु हो जाना चाहिए। धर्म बातों का विषय नहीं है – वह तो प्रत्यक्ष अनुभूति का विषय है। हमें अपनी आत्मा में अन्वेषण करके देखना होगा कि वहाँ क्या है। हमें यह समझना होगा और समझकर उसका साक्षात्कार करना होगा। यही धर्म है। लम्बी-चौड़ी बातों में धर्म नहीं रखा है। अतएव, कोई ईश्वर है या नहीं, यह तर्क से प्रमाणित नहीं हो सकता, क्योंकि युक्तियाँ दोनों ओर समान हैं। ... जिन व्यक्तियों ने वास्तव में ईश्वर एव आत्मा की उपलब्धि की है, वे ही सच्चे धार्मिक हैं।

— *स्वामी विवेकानन्द*

दया के मिसाल

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विभिन्न विषयों पर अनेक विचारोत्तेजनक लेख लिखे थे, जो आकाशवाणी के विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। - सं.)

बचपन में दया की अनेकों कहानियाँ पढ़ी हैं। उस समय ये मन पर भारी प्रभाव डालती थीं। राजा शिबि की दया का उदाहरण तो माँ के दूध के साथ मिला था कि कैसे वे एक सामान्य कबूतर की रक्षा हेतु अपने पूरे शरीर का मास ही बाज को देने के लिए तैयार हो गये थे। कैसे दधीचि ने देवताओं पर दया करते हुए अपनी हड्डियाँ तक देने के उद्देश्य से अपने जीवन की ही आहुति दे दी थी। ये कथाएँ बाल-मन का रजन ही नहीं करती थीं, बल्कि उनमें आदर्शवादिता भी भरती थीं।

जैसे जैसे आयु बढ़ने लगी, ऐसी कथाओं के इतिहास पर सशय होने लगा। मन में प्रश्न उठने लगे कि क्या किसी व्यक्ति में दया की इतनी मात्रा हो सकती है कि वह दूसरे के प्राणों की रक्षा में अपने प्राणों का होम कर दे? मन के किसी कोने से आवाज उठती है कि क्या आज भी सैनिक अपने देशवासियों के प्राणों की रक्षा के लिए अपने प्राण नहीं होम कर देते? इसका उत्तर बुद्धि देती है कि सैनिक अपने कर्तव्य से बँधा रहता है, उसके सामने चुनाव का कोई प्रश्न ही नहीं रहता; जबकि शिबि या दधीचि किसी कर्तव्य से बँधे नहीं थे। वे कपोत या देवताओं के अनुरोध को अस्वीकार करने में स्वतत्र थे। परन्तु फिर भी वैसा न करके, वे अपने प्राण देने को तैयार हो गये - यह दया की अद्वितीय मिसाल है। फिर सशय उठता है कि क्या यह मिसाल वास्तविक है या महज पुराण-कथा है? मन जब सशय के दोलन में झूल रहा था, तब दो उदाहरण ऐसे पढ़ने को मिले, जिसने मेरा नजरिया ही बदल दिया।

पहला था अब्राहम लिंकन का, जो गणतत्रनिष्ठ अमेरिका के पहले राष्ट्रपति थे। वे एक जरूरी बैठक में भाग लेने स्वयं गाड़ी चलाकर जा रहे थे। अचानक उन्होंने एक आर्तनाद सुना। देखा कि शूकर (सूअर) का एक बच्चा बाजू के दलदल में धँसता जा रहा है। उन्होंने गाड़ी रोकी, आस्तीन चढ़ाई, पैंट को नीचे से मोडा और दलदल में उस शूकर-शावक को बचाने घुस पड़े। दलदल भयानक थी, उनके अपने धँस जाने का भय था, पर उन्होंने अपने प्राणों की परवाह न कर, शूकर के बच्चे को दलदल से निकालकर किनारे पर रख दिया। उनके सारे कपड़े कीचड़ से लथपथ हो गये। यदि कपड़े बदलने जाते, तो बैठक में देर हो जाती, अत: वे वैसे ही बैठक में जा पहुँचे। उन्हें उस दशा में देखकर लोगों को डर हुआ कि कहीं कोई दुर्घटना तो नहीं हो गयी। लिंकन ने सारी घटना सक्षेप में बतलायी। लोग दाद देने लगे कि आप कितने दयालु हैं, आदि आदि। लिंकन ने कहा - मैंने कोई दयावश यह कार्य नहीं किया है। उस शूकर के बच्चे की दुरवस्था देखकर मुझे पीड़ा होने लगी और सच पूछो तो मैंने अपनी उस पीड़ा को दूर करने के लिए ही ऐसा किया, उसमें दया जैसी कोई बात नहीं थी।

दूसरा उदाहरण महाराष्ट्र के प्रसिद्ध सन्त एकनाथ का है। पैठण से हरिद्वार जाकर उनके साथियों का दल काँवर पर गगाजल लेकर रामेश्वर जा रहा था। विजयवाड़ा का चतुर्दिक क्षेत्र तीन वर्षों से अकाल-पीड़ित था। जल ले जा रहे काफिले ने रास्ते में कई पशुओं को जलाभाव में मृत देखा। एक गदहा छटपटा रहा था। एकनाथ से नहीं रहा गया। वे अपना जलपात्र लेकर गदहे के पास गये और धीरे धीरे सारा जल गदहे के मुख में ढाल दिया। गदहे को चैतन्य हुआ और वह उठकर एक ओर चला गया। एकनाथ को बड़ी प्रसन्नता हुई।

मित्रों ने कहा, "एकनाथ, तुमने तो सारा जल ही गदहे को पिला दिया, अब किससे भगवान रामेश्वर शिव का अभिषेक करोगे?" एकनाथ ने भोलेपन से पूछा, "क्यों? क्या तुम लोग अपने पास का जल नहीं दोगे?" मित्र बोले, "सो तो दे देंगे, एकनाथ; परन्तु पुण्य तो हरिद्वार से स्वय अपने द्वारा लाये जल से अभिषेक करने में विशेष होता है।" एकनाथ लाचारी के स्वर में बोले, "क्या करूँ! मैं भी तो तुम लोगों के साथ ही चला जा रहा था। जब मेरी दृष्टि उस मुमूर्षु गदहे पर पड़ी, तो मैंने देखा - अचानक भगवान रामेश्वर शिव उसकी देह में से प्रकट हो गये और मुझसे शिकायत के स्वर में कहने लगे, 'अरे, मैं यहाँ प्यास के मारे छटपटा कर मर रहा हूँ और तुम जल लेकर मुझे नहलाने रामेश्वर जा रहे हो!" भला मैं तब क्या करता, सारा जल ही उस गदहे को पिला दिया।"

यह दया की दूसरी मिसाल है। दया पर लम्बे भाषणों तथा विवेचनों की अपेक्षा इन दो घटनाओं ने मुझे दया के विषय में ज्यादा जानकारी दी तथा एक नयी दृष्टि प्रदान की।

संस्कृत भाषा : राष्ट्रीय एकता का आधार

डॉ. श्रीधर भास्कर वर्णेकर

(अनेकानेक पुरस्कारों से सम्मानित, वर्तमान काल के महानतम संस्कृत-विद्वानों में अग्रगण्य डॉ. वर्णेकर ने संस्कृत, मराठी, हिन्दी आदि भाषाओं में बहुत-से मूल्यवान ग्रन्थों की रचना की है। उनका सर्वाधिक महत्वपूर्ण योगदान तीन खण्डों में प्रकाशित उनका 'संस्कृत-वाङ्मय-कोष' है। भारत सरकार द्वारा घोषित इस 'संस्कृत-वर्ष' के अवसर पर हम इसकी विरासत के सम्बन्ध में उनकी एक लेखमाला का प्रकाशन आरम्भ कर रहे हैं। – सं.)

संस्कृत साहित्य में अनेक प्रकार के अर्थों में 'संस्कृत' शब्द का प्रयोग हुआ है। उन सभी प्रयोगों में – सुशोभित करना, अलंकृत करना, पवित्र करना, प्रशिक्षित करना, सतेज करना, निर्दोष करना इत्यादि भाव व्यक्त होते हैं। जब किसी भाषा को 'संस्कृत' विशेषण लगाया जाता है, तब यह अर्थ माना जाता है कि वह भाषा अर्थात् उस भाषा के बहुत-से शब्द, निश्चित अर्थ व्यक्त करने की दृष्टि से, भाषाशास्त्रीय पद्धति के अनुसार विवेचित होकर निर्दोष कर दिये गये हैं। उन शब्दों में स्वर, व्यंजन, ह्रस्व, दीर्घ इत्यादि किसी प्रकार की विकृति या दोष बाकी नहीं रहीं। अधिकांश शब्दों का निरुक्ति, व्युत्पत्ति आदि दृष्टि से पूर्णतया संशोधन करने के कारण सम्पूर्ण भाषा में जो परिपूर्णता, परिपक्वता या विशुद्धता निर्माण हुई है, उसी कारण प्राचीन भारतीय मनीषियों ने – **संस्कृतं नाम दैवी वाक्** (काव्यादर्श, १/३३) – कहते हुए 'दैवी वाक्' के अभूनपूर्व विशेषण के साथ अपनी संस्कारपूत भाषा की स्तुति की है। संस्कृत भाषा के निर्देशक देवभाषा, गीर्वाणवाणी, अमृतवाणी, सुरभारती आदि अनेक रूढ़ शब्द इस भाषा की संस्कार-पूतता के कारण इसमें आये अपूर्वता, अद्‌भुतता, सुन्दरता आदि गुणों को ही व्यंजित करते हैं।

आस्तिक दृष्टिकोण

आस्तिक दृष्टिकोण के अनुसार सम्पूर्ण चराचर विश्व की सृष्टि सर्वव्यापी और सर्वान्तर्यामी परमात्मा से हुई है। तात्पर्य यह कि इस सृष्टि के समस्त सचेतन प्राणियों के कण्ठ से प्रस्फुटित होनेवाली शब्दरूप वाणी भी परमात्मा की ही रचना है। आदिकाल म यह शब्दरूप वाणी समुद्र की ध्वनि के समान अव्यक्त अर्थात् अस्फुट थी। श्री सायणाचार्य (बाद में स्वामी विद्यारण्य) अपने 'ऋग्वेद-भाष्य' में कहते हैं – **"अग्निमीले पुरोहितम् इत्यादि-वाक् पूर्वस्मिन् काले समुद्रादिध्वनिवद् प्रकाशात्मिका सती अव्याकृता (प्रकृतिः प्रत्ययः पदं वाक्यम् इत्यादि विभागकारिग्रन्थरहिता) आसीत्। तदा देवैः प्रार्थितः इन्द्रः एकस्मिन् एव पात्रे वायोः स्वस्य च सोमरसग्रहणरूपेण वरेण तुष्टः ताम् अखण्डवाचं मध्ये विच्छिद्य प्रकृतिप्रत्ययादि-विभागं सर्वत्र अकरोत्।"** – अर्थात् भगवान इन्द्र ने सोमरस से प्रसन्न होने के कारण, आदिकाल में समुद्रध्वनि के समान अव्यक्त वेदवाणी को प्रकृति-प्रत्यय इत्यादि विभाग भाषा में निर्माण कर उसे अर्थग्रहण के योग्य किया।

ऋग्वेद में भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में चार प्रसिद्ध मंत्र मिलते हैं। इन मंत्रों पर भाष्य लिखनेवाले यास्क, पतंजलि, सायण जैसे महामनीषियों ने अपने भाष्य ग्रन्थों में वैदिक भाषा की उत्पत्ति का सम्बन्ध साक्षात् देवों से ही जोड़ा है। सायणाचार्य ने तो संस्कृत भाषा के पर्यायवाची 'देवभाषा' रूप समासिक शब्द का विग्रह करते हुए कहा है कि 'देवसृष्टा भाषा देवभाषा'– देवों द्वारा रचित होने से यह देवभाषा है और साथ ही यह देवभाषा 'सर्वजनमान्या' और 'सर्वविदिता' है। 'त्रेता युग में इन्द्र, चन्द्र, भूतेश जैसे देवता इस भाषा के अक्षर निर्माता थे' – आदि अर्थवाले वाक्य भी प्राचीन ग्रन्थों में मिलते हैं।

भाषा-विज्ञान का मत

आधुनिक भाषाविज्ञान के पण्डितों ने संसार के जो विविध भाषा परिवार माने हैं, उनमें आर्य परिवार (जिसे इंडो-जर्मनिक या इंडो-यूरोपियन भी कहते हैं) नामक भाषा-परिवार को सर्वप्रमुख माना है। भारत, यूरोप, इरान, उत्तर-दक्षिण अमेरिका तथा आस्ट्रेलिया जैसे विशाल प्रदेशों की अनेकविध भाषाएँ इसी परिवार के अन्तर्गत आती हैं और इन सबमें संस्कृत भाषा को अग्रगण्य स्थान दिया जाता है। संस्कृत भाषा की प्रमुखता के कारण कुछ विद्वानों ने इसका नाम 'सांस्कृतिक भाषा-परिवार' भी सुझाया था। परन्तु चूँकि इस परिवार के दो प्रमुख प्रदेश 'इंडिया और यूरोप' हैं, अतः इन दोनों का निर्देशक 'इंडो-यूरोपीय' नाम सर्वत्र रूढ़ हो चुका है।

इंडो-यूरोपीय परिवार की समस्त भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन करने के बाद आधुनिक भाषा-वैज्ञानिक इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि इन विविध प्रदेशस्थ भाषाओं का मूल स्रोत कोई 'आदिम आर्यभाषा' रही होगी। प्राचीन संस्कृत, अवेस्ती (पारसी), यूनानी तथा लैटिन भाषाओं में प्राप्त साहित्य में प्रयुक्त शब्दों का मंथन करने के बाद जो सारभूत 'भाषा' का स्वरूप उपलब्ध हुआ, उस कल्पित भाषा को 'आदिम आर्यभाषा' की संज्ञा प्रदान की गयी। यह तथाकथित कल्पित आदिम आर्यभाषा संस्कृत, अवेस्ती, यूनानी, लैटिन, जर्मन, केल्टी, स्लावी, बाल्टी, आर्मीनी, अल्बेनी, तोखारी और हिट्टाइट आदि सभी इंडो-यूरोपीय भाषाओ की जननी मानी गई।

इस काल्पनिक आदिम भाषा का प्रयोग करनेवाली आर्यजाति और यूरोप की पूर्वी और एशिया की पश्चिमी सीमा-रेखा के आसपास कही स्थित उसके मूलस्थान की भी कल्पना की

गई । इस सन्दर्भ में प्रो. बैंडस्टाइन का मत प्रमाणभूत मानकर, डॉ. सुनीति कुमार चैटर्जी जैसे भारतीय भाषावैज्ञानिक उराल पर्वत का दक्षिणी प्रदेश ही आदिम आर्यजाति का मूल स्थान मानते हैं । इस कल्पित तथाकथित आदिम आर्य भाषा की निकटतम भाषा संस्कृत ही मानी गयी है ।

इसी संस्कृत भाषा में, संसार का प्राचीनतम वैदिक साहित्य, काफी बड़े परिमाण तथा अपने अविकृत स्वरूप में आज भी उपलब्ध है । समग्र मानव-जाति के प्राचीनतम इतिहास के लिपिबद्ध प्रमाण अब भारत की इस देववाणी में ही प्राप्य हैं ।

मानव-समाज में जब तक अपने प्राचीनतम इतिहास के प्रति आस्था या जिज्ञासा रहेगी और जब तक ग्रन्थालयों तथा संग्रहालयो में प्राचीनतम साहित्य तथा वस्तुओं का संग्रह करने की प्रेरणा रहेगी, तब तक संस्कृत भाषा में निबद्ध प्राचीन वैदिक वाङ्मय को अग्रपूजा का स्थान देना ही होगा । वैदिक साहित्य का भाषा-शास्त्रीय अध्ययन करने के बाद आधुनिक भाषा पण्डित इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि वैदिक संहिताओं में संकलित सूक्तों में यत्र-तत्र भाषा का भेद दिखाई देता है । ऋग्वेद के प्रथम और दशम मण्डल के सूक्तों की भाषा अन्य मण्डलों की तुलना में उत्तरकालीन दिखाई देती है । ब्राह्मण-ग्रन्थो, प्राचीन उपनिषदों तथा सूत्र-ग्रन्थों की भाषा क्रमशः विकसित हुई प्रतीत होती है । पाणिनि के समय तक वैदिक साहित्य और तत्कालीन विद्वानों की प्रचलित भाषा में पर्याप्त अन्तर आ चुका था । पाणिनि के पूर्व भी पच्चीस श्रेष्ठ वैयाकरणों ने इस भाषा के शब्दों का बड़ी सूक्ष्मता के साथ विश्लेषण किया था । पाणिनि के समय तक संस्कृत भाषा में प्रयुक्त होनेवाले शब्दों में रूपान्तरण होने के कारण, उत्तर भारत में उदीच्य, प्राच्य और मध्यदेशीय भाषा के रूप में उसके तीन विभाग हो गये थे ।

वैदिक संस्कृत और उत्तरकालीन विदग्ध संस्कृत भाषा में प्रधानतया जो भेद उत्पन्न हो गये थे, संक्षेप में उनका स्वरूप निम्न प्रकार है –

(१) लौकिक भाषा में अनेक वैदिक शब्दों के अर्थ बदल गये थे ।

(२) वैदिक और लौकिक संस्कृत में कुछ प्रत्यय, धातु तथा सर्वनामों में भेद आ चुका था ।

(३) वैदिक संस्कृत में क्रिया से दूर रहनेवाले उपसर्ग भी लौकिक भाषा में क्रिया के पूर्व निश्चित रूप से जुड़ने लगे ।

(४) उदात्त, अनुदात्त और स्वरित – इन तीन स्वरों के कारण वैदिक संस्कृत में जो संगीतमयता थी, वह लौकिक भाषा में (उन स्वरों का विलय होने से) लुप्त हो गई ।

(५) वैदिक भाषा में कर्ता और क्रियापद के वचन में भिन्नता थी, लौकिक भाषा में वहाँ एकता आई । यही बात विशेषण और विशेष्य के सम्बन्ध में भी हुई ।

(६) वैदिक भाषा में केवल वर्णिक छन्द मिलते हैं, परन्तु लौकिक संस्कृत में वर्णिक और मात्रिक दोनों प्रकार के छन्द मिलने लगे । अनुष्टुप को छोड़ कुछ अन्य वैदिक छन्दों का प्रचलन लौकिक संस्कृत से लुप्त हो गया ।

संस्कृत और राष्ट्रीय एकता

भगवान पाणिनि संस्कृत भाषा के (और विश्व के भी) सर्वश्रेष्ठ वैयाकरण हुए । उन्होंने अपने 'शब्दानुशासन' द्वारा संस्कृत भाषा को विकृति से बचाया । लौकिक व्यवहार में लोगों की शुद्ध वर्णोच्चारण की अक्षमता अथवा उसमें यथेच्छाचार की प्रवृत्ति के कारण संस्कृत से निकली अनेक अपभ्रंशात्मक प्राकृत भाषाएँ भारत के विभिन्न भागों में उदित और क्रमशः विकसित होती गईं । परन्तु पाणिनीय व्याकरण के सर्वमान्य प्रामाण्य के कारण संस्कृत भाषा का स्वरूप निरन्तर अविकृत बना रहा । विश्व-भाषाओं के इतिहास में यह एक परम आश्चर्य की बात है । पाणिनीय व्याकरण के प्रभाव के कारण संस्कृत भाषा का दूसरा 'अमर-भाषा' नाम भी सार्थक सिद्ध हुआ ।

पाणिनिकालीन शिष्ट समाज में संस्कृत ही पारस्परिक विचार-विनिमय की भाषा थी । उनके बाद भी अनेक शताब्दियों तक संस्कृत भाषा यह कार्य सम्पन्न करती रही । श्रीशंकराचार्य जैसे प्राचीन विद्वान् संस्कृत भाषा में शास्त्रार्थ करके ही अपने सैद्धान्तिक दिग्विजय का सम्पादन करते थे । कुछ इतिहासज्ञों के मतानुसार मगध साम्राज्य तथा बौद्ध सम्प्रदाय के प्रभाव के कारण संस्कृत का प्रभाव कुछ काल तक सीमित-सा हो गया था, परन्तु पुष्यमित्र शुंग की राज्यक्रान्ति के बाद मौर्य-युग की समाप्त होने तक संस्कृत भाषा का महत्व फिर से यथापूर्व स्थापित हो गया । प्रायः बारहवीं सदी तक संस्कृत ही सभी हिन्दू राज्यों की राजभाषा रही ।

बारहवीं शताब्दी के बाद से आज की हिन्दी, गुजराती, बँगला, मराठी आदि प्रादेशिक भाषाओं की लोकप्रियता एवं महत्व में वृद्धि होती गई और उनका अपना साहित्य भी बनने लगा । परन्तु पाली, प्राकृत, महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी आदि के समान ही ये आधुनिक प्रादेशिक भाषाएँ भी संस्कृत के ही तत्सम तथा तद्भव शब्दों से जीवित और परिपोषित होती गईं । पाश्चात्य साहित्य का परिचय और प्रभाव होने के पहले का सभी प्रादेशिक भाषाओं का पूरा साहित्य संस्कृतोपजीवी ही रहा । संस्कृत भाषा में शास्त्रीय-विश्लेषण की जो अद्भुत क्षमता है, उसके अभाव के कारण पाली-प्राकृत भाषा के अभिमानी धर्माचार्यों को भी यथावसर संस्कृत का ही आश्रय लेना पड़ा । भाषा-वैज्ञानिकों के मतानुसार दक्षिण की तमिल, मलयालम, कन्नड़ और तेलुगु – ये चार भाषाएँ द्रविड़ परिवार की मानी जाती हैं । परन्तु उन भाषाओं में भी संस्कृत के

तत्सम और तद्भव शब्दों की मात्रा उत्तर भारत की हिन्दी आदि प्रादेशिक भाषाओं के प्राय: समान ही नहीं, बल्कि कुछ अधिक भी है और उनका सारा साहित्य भी इस सुरभारती के स्तनपान से ही परिपुष्ट हुआ है। यही एक कारण है कि भारत में भाषाओं की विविधता के उपरान्त भी, उसका साहित्य एकात्म तथा एकरूप है। इस सनातन राष्ट्र के जीवन में इस महनीय भाषा के कारण ही सदियों से सांस्कृतिक सरूपता और एकात्मता रही है। आगे चलकर भी यदि इस राष्ट्र को अपनी भाषिक तथा सांस्कृतिक एकता सुदृढ़ रखनी हो, तो संस्कृत का सार्वत्रिक प्रचार अपरिहार्य है।

संस्कृत की अखिल भारतीयता

जैसे प्राचीनता संस्कृत भाषा की एक अनोखी विशेषता है, वैसे ही उसके विशाल साहित्य-भण्डार की अखिल भारतीयता भी उसकी दूसरी विशेषता है। यद्यपि बारहवीं शताब्दी से भारत के अन्यान्य प्रदेशों में विविध प्रादेशिक भाषाओं का धीरे धीरे विकास प्रारम्भ हुआ, परन्तु इन सभी प्रादेशिक भाषाओं का साहित्य निरपवाद रूप से संस्कृत साहित्योपजीवी रहा। संस्कृत का पौराणिक वाङ्मय ही उस साहित्य का प्रेरणा-केन्द्र बना रहा। व्यास और वाल्मीकि की प्रतिभा ही मानो सभी प्रादेशिक साहित्यिकों की लेखनी से शत-सहस्र आकार-प्रकारों में पुष्पित तथा पल्लवित हुई। आधुनिक युग में पाश्चात्य साहित्य से सम्पर्क के फलस्वरूप प्रादेशिक साहित्य की वल्लरियाँ अब अन्यान्य दिशाओं तथा आयामों में भी विकसित हुई हैं। आज वे सभी अपने अपने प्रदेशों की राजभाषाएँ हुई हैं, परन्तु इतनी प्रगति के बावजूद हिन्दी, मराठी, गुजराती, बंगाली, तेलुगु, कन्नड़, तमिल, मलयालम आदि प्रादेशिक भाषाओं के साहित्य में अखिल भारतीयता नहीं आ सकी है। कुछ अभिनन्दनीय अपवादों को छोड़ दें, तो प्रत्येक प्रादेशिक भाषा का प्राय: समूचा लेखक-वर्ग उसी प्रान्त में सीमित होता है, जैसे कि मराठी का लेखक महाराष्ट्र या कन्नड़ भाषा का लेखक कर्नाटक के बाहर नहीं मिलता और न आगे चलकर मिलने की ही सम्भावना है। हिन्दी भाषा को अखिल भारतीय भाषा के रूप में शासकीय, वैधानिक तथा विविध प्रकार का समर्थन प्राप्त है, तथापि हिन्दी का साहित्यकार मुख्यत: उत्तर भारतीय ही रहा है।

भारत के सभी प्रादेशिक भाषाओं के साहित्य के इतिहास ग्रन्थ पढ़ते समय उनकी सीमित प्रादेशिकता ठीक ध्यान में आती है। आज के भाषा-सम्बन्धी मोह के युग में यह साफ दिखाई देता है कि भविष्य में भी हिन्दी, बंगाली, मराठी, कन्नड़ आदि भारत की विविध प्रादेशिक भाषाओं में से किसी भी भाषा का प्रमुख लेखक-वर्ग अखिल भारतीय न होकर, प्रादेशिक ही रहेगा।

संस्कृत साहित्य के अन्तर्गत आनेवाले विविध ललित शास्त्रीय शाखाओं के इतिहास का अनुशीलन करते हुए, उसके लेखकों की अखिल भारतीयता ही प्रमुखता से ध्यान में आती है। इस भाषा के गद्य, पद्य और सूत्ररूप ग्रन्थों में काश्मीर से कन्याकुमारी तक और कामरूप से कच्छ तक फैले हुए समग्र भारतवर्ष के अन्तर्गत सभी प्रदेशों में जन्मे हुए महा-मनीषियों के प्रतिभा एवं पाण्डिय का अद्भुत वैभव अपनी दिव्य प्रभा से जाज्वल्यमान है।

संस्कृत वाङ्मय के सभी प्राचीन तथा अर्वाचीन लेखकों के असंख्य ग्रन्थ अभी तक प्रकाशित नहीं हुए। तथापि जितने प्रकाशित हुए हैं और उनमें से जितने परिमित ग्रन्थों की समीक्षा संस्कृत-साहित्य के इतिहास-ग्रन्थों में आज तक हुई है, उनकी और उसके लेखकों की इतनी आश्चर्यजनक संख्या को देखकर लगता है मानो अतिप्राचीन काल से आज तक का अखिल भारतीय प्रज्ञा-वैभव संस्कृत साहित्य में ही संचित हुआ है। इसी कारण भारत की समग्र प्रबुद्ध जनता के हृदय में संस्कृत भाषा तथा उसके समग्र साहित्य के प्रति परम आत्मीयता तथा श्रद्धा का भाव है। जिस भाषा और साहित्य के प्रति सम्पूर्ण राष्ट्र की जनता श्रद्धायुक्त आत्मीयता रखती हो, वह भाषा तथा साहित्य उस समूचे राष्ट्र का 'दैवी निधान' होता है। उसका संरक्षण, अध्ययन और प्रसारण करना उस राष्ट्र के निष्ठावान नागरिकों का अनिवार्य कर्तव्य हो जाता है। सम्पूर्ण भारत के विद्या-रसिकों का संस्कृत भाषा और साहित्य के प्रति यही दायित्व है। ❖

सुख और दुख

इन्द्रियों से जो सुख मिलता है, वह अन्त में दुख ही लाता है; क्योंकि भोग से और अधिक भोग की तृष्णा होती है और इसका अपिहार्य फल होता है दुख। मनुष्य की कामनाओं का कोई अन्त नहीं, वह लगातार कामना रचता जाता है और जब ऐसी अवस्था में पहुँचता है, जहाँ उसकी कामनाएँ पूर्ण नहीं होती, तो फल होता है दुख।

— *स्वामी विवेकानन्द*

समय होत बलवान

स्वामी सत्यरूपानन्द

प्रत्येक व्यक्ति का जीवन उनके अभी के चिन्तन, उनके आज और अभी के कर्म तथा आचरण के अनुसार होगा। यदि उनका आज और अभी का अर्थात् वर्तमान का चिन्तन शुभ और उदात्त होगा, कर्म अच्छे और परोपकारी होंगे तो उनका आज का जीवन शुभ, सुन्दर और आनन्दमय होगा। उतना ही नहीं उनके आगामी कल का जीवन भी सुन्दर और सुखी होगा। गत कल के बिगड़े हुए कर्म की क्षतिपूर्ति हो जायेगी।

मित्रो, वर्तमान के सदुपयोग में ही जीवन की सफलता है, सिद्धि है, सुख है, सार्थकता है।

कई बार मन में प्रश्न उठता है ऐसा क्यों है? ऐसा इसलिये है कि ससार के सभी कार्य समय के भीतर ही होते हैं। ससार समय में ही अवस्थित है। समय के बाहर कुछ भी नहीं है। समय ही जीवन है, ससार है।

और हम सभी जानते हैं कि समय वर्तमान में और केवल वर्तमान में ही होता है। समय न तो भूतकाल में है और न भविष्य में समय केवल वर्तमान में ही है।

भूत स्मृति है और भविष्य कल्पना। कल्पना और स्मृति केवल मानसिक जगत का कार्य है, जीवन का यथार्थ नहीं। यथार्थ तो वर्तमान ही है। जीवन के यथार्थ कार्य वर्तमान में ही किये जा सकते हैं। वर्तमान में ही जीवन को यथार्थ और सार्थक बनाया जा सकता है। अतः जीवन में जो भी करना है उसे वर्तमान में ही शुरू करना होगा। वर्तमान में कार्य आरम्भ किया नहीं कि जीवन सक्रिय और गतिशील हो उठता है; और हम सभी यह देखते हैं अनुभव करते हैं कि जीवन वृक्ष का फल सक्रियता एवं गतिशीलता की शाखाओं में ही लगता है।

यहाँ एक व्यावहारिक प्रश्न आता है कि वर्तमान का उपयोग कैसे करें? इसके लिये हमें एक दूसरे तथ्य की ओर ध्यान देना होगा। वह तथ्य है समय का स्वभाव, हमें समय के स्वभाव को ठीक ठीक समझ लेना होगा। समय की जिस ईकाई से हम साधारणतः परिचित हैं क्षण या सेकण्ड, इससे बड़ी ईकाई है मिनट। मिनट से हम सब भलीभाँति परिचित हैं तथा हम सभी दैनन्दिन जीवन में उसका उपयोग भी करते हैं।

पर बड़े आश्चर्य की बात है कि हमारा ध्यान प्रायः मिनट की ओर नहीं जाता तथा हम समय को घटों, दिनों, सप्ताहों, महीनों और वर्षों में पकड़ना चाहते हैं। हम प्रायः सोचा करते हैं कि दो घण्टे में कोई पुस्तक पढ़ लेंगे या कोई पत्र अथवा लेख आदि लिख लेंगे। अगले दिन से या अगले सप्ताह से स्वास्थ्य सुधार के लिये व्यायाम प्रारम्भ करेंगे। अगले महीने से किसी विषय विशेष का अध्ययन प्रारम्भ कर देंगे, अगले वर्ष अमुक कार्य या व्यवस्था में लग जायेंगे आदि।

यहाँ हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि भविष्य की ये योजनाएँ तो ठीक हैं। किन्तु इन सभी योजनाओं के लिये वर्तमान में हम कुछ न कुछ अवश्य कर सकते हैं। हमारे भविष्य के सभी योजनाओं की सफलता, हमारे वर्तमान की तैयारी पर निर्भर करती है। भविष्य की सभी योजनाओं का उत्स वर्तमान ही होता है। वर्तमान में हम अपने जीवन को जितना अधिक सयत, व्यवस्थित तथा सुनियोजित करेंगे भविष्य के कार्य के लिये हम उतने ही अधिक योग्य अधिकारी हो सकेंगे तथा उतनी ही अधिक मात्रा में हमारे भविष्य की योजनाओं की सफलता की सम्भावनाएँ भी होंगी। तथा हम सफल और कृतार्थ भी हो सकेंगे।

समय वर्तमान में ही होता है। अतः समय को पकड़ने के लिये उसका सदुपयोग करने के लिये सर्वप्रथम हमें समय के सम्बन्ध में सचेत या जागरूक होना चाहिए। समय का सदुपयोग हम इसीलिये नहीं कर पाते क्योंकि हम उसके सम्बन्ध में सावधान या जागरूक नहीं होते हैं। हमें प्रायः समय के बीतने का ध्यान ही नहीं रहता। ध्यान न रहने के कारण हमारा अधिकाश समय व्यर्थ के कार्यों अथवा आलस्य-प्रमाद आदि मे ही व्यतीत होता है और हम उस समय का लाभ नहीं ले पाते।

अस्तु समय के सम्बन्ध में जागरूक रहना होगा।

समय को पकड़ने का, उसका सदुपयोग करने का सहज और श्रेष्ठ उपाय है २४ घंटे का एक दैनिक कार्यक्रम बना लेना। यह कार्यक्रम प्रत्येक व्यक्ति को अपनी परिस्थिति, सुविधा आदि के अनुसार बनाना होगा। मुख्य बात है सोच विचारकर अपने लिये एक ऐसी दिनचर्या बना लेना जिसका पालन करना सहज ही सम्भव हो।

इस दिनचर्या में अपनी नौकरी, व्यवसाय, कार्य आदि के अनुसार अपने सभी कार्यों के लिये समय निर्धारित कर लेना चाहिये। समय निर्धारण में कार्यों की प्राथमिकता की ओर विशेष ध्यान देना चाहिये। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी अपनी आवश्यकता तथा सुविधा के अनुसार प्राथमिकता निर्धारित करना होता है। उसी क्रम में प्रत्येक कार्य के लिये समय निर्धारित करना होगा। **(शेष पृष्ठ ७६ पर)**

स्वामी विवेकानन्द के संस्मरण

के. एस. रामस्वामी शास्त्री

(धन्य थे वे लोग, जिन्होने स्वामीजी के काल में जन्म तथा उनका सामीप्य प्राप्त किया। उनके प्रत्यक्ष सम्पर्क में आने-वाले अनेक लोगों ने अपनी अविस्मरणीय स्मृतियों को लिपिबद्ध किया है। ये संस्मरण अनेक पत्र-पत्रिकाओं तथा ग्रन्थों में प्रकाशित हुए है और उनमें से कुछ का हिन्दी में भी प्रकाशन हो चुका है। प्रस्तुत लेख अद्वैत आश्रम द्वारा प्रकाशित 'Reminiscences of Swami Vivekananda' ग्रन्थ से लिया गया है और इसके अनुवाद मे हमे नागपुर की श्रीमती कान्ता सिन्हा का विशेष सहयोग मिला है, जिसके लिए हम उनके कृतज्ञ है। – सं.)

१८९३ ई. के सितम्बर में आयोजित होनेवाली विश्व-धर्म-महासभा मे हिन्दू धर्म का प्रतिनिधित्व करने हेतु स्वामी विवेकानन्द के शिकागो के लिए प्रस्थान करने के पूर्व १८९२ ई. के अन्तिम दिनों में त्रिवेन्द्रम में मेरी उनसे भेंट हुई। तदुपरान्त जब वे १५ जनवरी, १८९७ ई. के दिन शिकागो से लौटकर कोलम्बो में उतरे तथा कुछ दिनों बाद मद्रास पहुँचे. तो मैं एक बार फिर उनसे मिला। इन स्मरणीय तथा पुनीत सम्पर्कों के फलस्वरूप मेरा पूरा जीवन ही रूपान्तरित हो गया था। अब उनकी जो भी स्मृतियाँ शेष हैं, उन्हीं का मैं यहाँ संक्षेप मे वर्णन करूँगा।

भारत-भ्रमण करते हुए स्वामीजी जब कोचीन से त्रिवेन्द्रम आये, उन दिनों मैं अपने पिता (प्रो. के. सुन्दरराम अय्यर) के साथ वही निवास करता था। वे कोचीन से मेरे पिता के नाम एक परिचय-पत्र लाये थे। मेरे पिता वहाँ त्रावंकोर राज्य के राजकुमार मार्तण्ड वर्मा के शिक्षक थे। मद्रास की सरकार ने मेरे पिता को त्रावंकोर राज्य की सेवा में भेजा था। १८९२ ई. मे मैट्रिक पास करने के बाद इन्टरमीडिएट की पढ़ाई के लिए मैंने त्रिवेन्द्रम के महाराजा कॉलेज में प्रवेश लिया था। १८९२ ई. के अन्तिम दिनों में, मेरे जीवन की इस सन्धि-बेला में नियति ने मुझे स्वामीजी के पुनीत सान्निध्य में ला दिया।

स्वामीजी उन दिनों प्रसिद्ध नहीं हुए थे, परन्तु उनके मन के भीतर पूरे विश्व में हिन्दू धर्म तथा आध्यात्मिकता का प्रचार करने की तीव्र उत्कण्ठा थी। एक दिन प्रात:काल वे सहसा ही आ पहुँचे। मै उस समय घर पर ही था। मैने अपने समक्ष एक दमकते हुए मुखमण्डल से युक्त एक अच्छे डीलडौल के रोबदार व्यक्ति को खड़े देखा। उनके सिर पर गेरुए रंग की पगड़ी थी, वे पाँव तक का गेरुआ लबादा पहने हुए थे और कमरबन्द के रूप में एक कपड़ा बँधा हुआ था।

स्वामीजी ने मुझसे पूछा, "क्या प्रो. सुन्दर रामन् घर पर है? मै उनके लिए एक पत्र लाया हूँ।" उनका स्वर मधुर, ओजपूर्ण तथा घण्टे की ध्वनि के समान था। रोमाँ रोलाँ ने उनके स्वर के बारे में ठीक ही लिखा था, "उनका स्वर वायलिन-सेलो के समान मधुर था – वह प्रबल विरोधाभासों से रहित गम्भीर होकर भी गहरे स्पन्दनों से युक्त होकर सभा-कक्षो तथा दिलो को प्रतिध्वनित किया करता था। एक बार श्रोताओं के मुग्ध हो जाने पर वे पियानो के तीव्र स्वरों के समान उनके हृदय तक पहुँच जाते थे।"

मैंने सिर उठाकर ऊपर की ओर देखा (उन दिनों मेरी आयु केवल चौदह वर्ष की थी) और या तो अपने बचपने अथवा अपनी अबोधता के कारण मैं उन्हें एक महाराजा समझ बैठा। मैं उनका पत्र लेकर दौड़ते हुए ऊपरी मंजिल में अपने पिता के पास जा पहुँचा और बोला, "एक महाराजा आये हैं और वे नीचे प्रतीक्षा कर रहे है। उन्होंने आप तक पहुँचाने के लिए यह पत्र दिया है।" मेरे पिताजी हँस पड़े और बोले, "रामस्वामी, तुम कितने भोलेभाले लड़के हो! महाराजा लोग हमारे जैसे लोगों के घर नहीं आते।" मैंने कहा, "आप कृपा करके मेरे साथ आइये। मुझे तो उनके महाराजा होने में जरा भी सन्देह नहीं है।" पिताजी ने नीचे जाकर स्वामीजी का अभिवादन किया और उन्हें ऊपर ले आये। स्वामीजी से काफी देर तक वार्तालाप करने के बाद पिताजी नीचे आकर मुझसे बोले, "नि:सन्देह वे एक महाराजा हैं, परन्तु वे किसी भूखण्ड के राजा नहीं, बल्कि अन्तरात्मा के असीम तथा सर्वोच्च राज्य के सम्राट् हैं।"

स्वामीजी उस बार हमारे घर नौ दिनों तक ठहरे। मेरे पिताजी ने अपनी उस काल की स्मृतियों का वर्णन 'स्वामी विवेकानन्द के साथ मेरी पहली नवरात्रि' शीर्षक लेख म किया है। त्रिवेन्द्रम के हमारे घर में उनके उस स्मरणीय निवास के दौरान मेरे प्रति कहे गये उनके शब्दों की अपने मन पर पड़ी अमिट स्मृतियों का ही यहाँ पर मैं संक्षेप में वर्णन करूँगा।

एक दिन सुबह के समय जब मैं अपने पाठ्यक्रम के लिए निर्धारित कालिदास का 'कुमारसम्भवम्' पढ़ रहा था, तभी वे आ गये। उन्होंने पूछा, "तुम कौन-सी पुस्तक का अध्ययन कर रहे हो?" मैंने उत्तर दिया, "यह कुमारसम्भव का पहला सर्ग है।" उन्होंने पूछा, "क्या तुम इन महान् कवि द्वारा किया हुआ हिमालय का वर्णन सुना सकते हो?"

मैंने दक्षिणी भारत में प्रचलित साधारण स्वर तथा लय के साथ कालिदास का सुन्दर तथा सुरीला हिमालय-वर्णन सुनाया। स्वामीजी उसे सुनकर मुस्कुराये, मेरी आवृत्ति पर प्रसन्न-से हुए और बोले, "जानते हो! मैं हाल ही मे काफी काल हिमालय के सुरम्य दृश्यों के बीच बिताकर आ रहा

हूँ ।'' मैं उत्साह तथा उत्सुकता से परिपूर्ण हो उठा । उन्होंने मुझसे एक बार फिर वह प्रथम श्लोक सुनाने को कहा । मैंने वैसा ही किया । उन्होने पूछा, ''क्या तुम इसका अर्थ जानते हो? जरा बताओ तो ।'' मैंने बता दिया । वे बोले, ''ठीक है, पर यथेष्ट नही ।'' इसके बाद उन्होंने अपनी अद्भुत संगीतमयी नपी-तुली वाणी में उस श्लोक की आवृत्ति की –

अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा
हिमालयो नाम नगाधिराजः ।
पूर्वापरौ तोयनिधावगाह्य
स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः ।।१/१[१]

वे.बोले, ''इस श्लोक में देवतात्मा (दिव्यता की प्रतिमूर्ति) तथा मानदण्ड (तराजू का दण्ड) ही महत्वपूर्ण शब्द हैं । कवि का आशय तथा संकेत यह है कि हिमालय प्रकृति द्वारा संयोगवश निर्मित हुई एक दीवार मात्र नहीं है । यह दिव्यता से परिपूर्ण है और यह न केवल उत्तरी ध्रुव-प्रदेश से आनेवाली ठण्डी बर्फीली हवाओं को रोकता है, अपितु भयानक तथा विध्वंसक जातियों के आक्रमण से भी भारत तथा उसकी संस्कृति की रक्षा करता है । हिमालय एक अन्य प्रकार से भी भारत की रक्षा करता है । वह सिन्धु, गंगा, ब्रह्मपुत्र आदि नदियों को अपनी गोद से निकालकर भेजता है । मानसून हो या न हो, बर्फ पिघलने के कारण पूरे साल इनमें जल प्रवाहित होता रहता है । 'मानदण्ड' से कवि का अभिप्राय यह है कि विश्व की समस्त संस्कृतियों में भारतीय संस्कृति ही सर्वश्रेष्ठ है और यह एक मानदण्ड की भाँति स्थापित है – प्राचीन काल से लेकर आज तक की और भविष्य की भी अन्य सभी संस्कृतियों का इसी के आधार पर मूल्यांकन किया जायेगा । कवि के मन में देशभक्ति के विषय में ऐसी ही उदात्त धारणा थी ।'' स्वामीजी के शब्द सुनकर मुझे रोमांच हो आया और आज तक मैं उन्हें अपनी स्मृतियों में सँजोये हूँ – अब भी वे अक्षुण्ण तथा स्पष्ट रूप से मेरे हृदय में प्रकाशित हो रहे हैं ।

उन्हीं नौ दिनों के दौरान एक दिन स्वामीजी ने मुझसे तथा मेरे पिताजी से कहा था, ''व्यावहारिक देशभक्ति का अर्थ केवल एक भावना या देश के प्रति प्रेमभाव मात्र नहीं होता, अपितु अपने देशवासियों के प्रति एक आवेगपूर्ण सेवाभाव है । मैंने पैदल ही सम्पूर्ण भारतवर्ष की यात्रा की है और अपने स्वयं के नेत्रों से अपने देशवासियों की अज्ञानता, दु:ख तथा दुर्दशा को देखा है ।

मेरी समूची आत्मा जल रही है; इस दुरवस्था में परिवर्तन लाने की तीव्र इच्छा से मेरा हृदय उबल रहा है । कर्मवाद की बातें करना व्यर्थ है । यदि कष्ट उठाना उनके कर्मफल से है, तो उस कष्ट को दूर करना हमारे कर्म में है । ईश्वर को पाना है, तो मनुष्य की सेवा करो । नारायण तक पहुँचने के लिए दरिद्र-नारायण की – भारत के करोड़ों भूखे लोगों की सेवा करनी होगी ।''

यही वह जड़ था, जिससे बाद में रामकृष्ण मिशन नामक एक विशाल वृक्ष का उदय हुआ । उनके शब्दों ने हमारे हृदय को पिघलाकर उसके भीतर समाज-सेवा की ज्योति प्रज्ज्वलित कर दी थी । इस प्रकार आध्यात्मिकता के समान ही सेवा भी उन्हें अत्यन्त प्रिय थी । परवर्ती काल के अपने एक स्मरणीय पत्र[२] में उन्होंने इच्छा व्यक्त की थी, ''मेरी अभिलाषा है कि मैं बारम्बार जन्म लूँ और हजारों दु:ख भोगता रहूँ, ताकि मैं उस एकमात्र समस्त आत्माओं के समष्टिरूप ईश्वर की पूजा कर सकूँ, जिसकी सचमुच सत्ता है और जिसका मुझे विश्वास है । सबसे बढ़कर, सभी जातियों तथा वर्गों के पापी, तापी तथा गरीबरूपी ईश्वर मेरे विशेष उपास्य हैं ।'' इन भावनात्मक शब्दों में हमें साक्षात् रन्तिदेव की वाणी सुनाई देती है ।

फिर एक अन्य दिन स्वामीजी ने मुझे बताया था, ''तुम अभी एक छोटे बालक हो, मैं आशा तथा अभिलाषा करता हूँ कि एक दिन तुम श्रद्धापूर्वक 'प्रस्थानत्रय' (ज्ञान के तीन सर्वोच्च स्रोत) के रूप में प्रसिद्ध उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र तथा भगवद्गीता का अध्ययन करोगे और साथ ही इतिहास, पुराण तथा आगम-शास्त्र भी पढ़ोगे । इस प्रकार की पुस्तकें तुम्हें संसार में अन्यत्र कहीं भी नहीं मिलेंगी । संसार में जीवित प्राणियों में से केवल मनुष्य ही ऐसा प्राणी है, जिसके मन में यह जिज्ञासा उठती है कि संसार और इसकी सारी वस्तुएँ कब और कैसे; क्यों और कहाँ से आईं? अभय, अहिंसा, असंग और आनन्द – ये चार मूलभूत शब्द तुम्हें सदैव स्मरण रखना चाहिए । इन शब्दों में हमारे समस्त शास्त्रों का सार समाया हुआ है । इन्हें याद रखो, इनका अभिप्राय तुम्हें बाद में स्पष्ट रूप से समझ में आ जायेगा ।'' उन दिनों मैं इतना छोटा था कि मेरे लिए इन विचारों की धारणा कर पाना असम्भव था । परन्तु मैंने प्रसन्नतापूर्वक उन शिक्षाओं को अपने मन में सँजो लिया और जीवन भर उनका निहितार्थ समझने की चेष्टा करता रहा हूँ ।

स्वामीजी द्वारा (१८९२ ई. में) हमारे घर में निवास के उन नौ दिनों के दौरान मैं प्राय: सर्वदा ही उनके आसपास बना रहता था, क्योंकि एक तो वे मेरे प्रति बड़े कृपालु थे और दूसरे उनके व्यक्तित्व में चुम्बक के समान आकर्षण था । मेरे पिताजी और स्वामीजी के बीच कई बार दर्शन तथा धर्म जैसे गहन विषयों पर चर्चा हुई, परन्तु उन दिनों वे सब बातें मेरी समझ

१. भावार्थ – इस भारतवर्ष के उत्तर मे देवता के समान पूजनीय एक बहुत बड़ा पहाड़ है, जो पूर्व तथा पश्चिम के समुद्रो तक फैला हुआ ऐसा लगता है मानो वह पृथ्वी को तौलने का मापदण्ड हो ।

२. अल्मोड़ा से ९ जुलाई १८९७ को मेरी हेल के नाम लिखा पत्र ।

के परे थीं। परन्तु स्वामीजी की आँखें अत्यन्त आकर्षक थीं और साथ ही दया तथा प्रेम से परिपूर्ण थीं। उनके स्वर में एक असाधारण मधुरता और शक्ति का सम्मिश्रण था और उनकी चाल परम गौरवशाली थी। उनके समीप रहकर उनके मुस्कानों का आनन्द उठाना मेरे लिए असीम आनन्द की बात थी। बीच बीच में वे मुझे संक्षेप में और भी अनेक बातें बतायी थीं, परन्तु अब उस घटना को हुए साठ वर्ष से भी अधिक हो चुके हैं और समय के इस दीर्घ अन्तराल के बाद मेरे मानस-पटल पर अंकित अतीत के स्मृति-चित्रों में से उनकी पूर्वोक्त उक्तियाँ ही सर्वाधिक स्पष्ट रूप से छायी हुई हैं।

१८९७ ई. में फरवरी के प्रारम्भ में स्वामीजी मद्रास पहुँचे थे। रोमाँ रोलाँ ने उनके भव्य स्वागत-समारोह का जो वर्णन किया है, वह एकदम सही है, क्योंकि मैं भी उसका प्रत्यक्षदर्शी था। उन्होने लिखा है, "मद्रास विह्वल होकर कई सप्ताह से उनकी बाट जोह रहा था। इस नगरी की जनता ने अपना सारा कार्य छोड़कर नौ दिन तक उनके स्वागत में उत्सव मनाया। सत्रह विजयद्वार सजाये गये और भारत की विभिन्न भाषाओं में उन्हें चौबीस मानपत्र दिये गये।

"विवेकानन्द ने हर्षोन्मत्त आतुर जनता को भारत के प्रति अपना सन्देश सुनाया – यह मानो राम, शिव और कृष्ण की धरती को जागरण का शंखनाद था, उसकी वीर और अमर आत्मा को आगामी युद्ध के लिए ललकार थी। सेनापति की भाँति वे अपने अभियान की योजना समझाते हुए अपने जनों को एकजुट होकर उठ खड़े होने के लिए पुकार रहे थे।"

मैं सदैव ही स्वामीजी के व्याख्यान सुनने को उत्सुक उनका एक प्रबल प्रशंसक था। मैं तब तक कुम्भकोणम् कॉलेज से बी.ए. पास करने के उपरान्त कानून पढ़ने के लिए मद्रास के लॉ कॉलेज में दाखिल हो चुका था। उन दिनों लॉ कॉलेज की पढ़ाई उतनी कड़ी नहीं थी और मद्रास के प्रेसीडेंसी कॉलेज के प्रांगण में शाम को पाँच बजे से सात बजे तक केवल दो घण्टे ही कक्षाएँ लगा करती थीं। चिकित्सा तथा कानून के विद्यार्थी सदैव ही बड़े साहसी तथा उत्साही रहे हैं। जिस दिन स्वामीजी का आगमन होनेवाला था, उस दिन उनका स्वागत करने के लिए मैं अपने मित्रों के साथ एगमोर स्टेशन पर गया। स्वामीजी को लाने के लिए दो घोड़ोंवाली बग्घी का प्रबन्ध किया गया था। उन्हें एक शोभायात्रा के साथ समुद्र के किनारे स्थित कैसल करनन (आइस हाउस) तक लाया जाना था। स्वामीजी ने उस भवन में नौ दिनों तक निवास किया।

रेल्वे स्टेशन पर मनुष्यों के चेहरों का मानो समुद्र ही तरंगायित हो रहा था। ज्योंही स्वामीजी की रेलगाड़ी दृष्टिगोचर हुई, त्योंही पूरा स्टेशन उनकी जय-जयकार के नारे से गूँज उठा। वे रेलगाड़ी से उतरकर क्रमशः बग्घी की ओर बढ़ने लगे। शोभायात्रा अभी थोड़ी ही दूर गयी थी कि कुछ उत्साहित नवयुवकों ने (जिनमें मैं भी था) आग्रहपूर्वक स्वामीजी की गाड़ी से घोड़ों को खोल दिया और उसे स्वयं ही खींचने लगे। कुछ लोग साथ साथ भी चले और इस प्रकार वह लम्बा मार्ग तय किया गया। अपनी हार्दिक आकांक्षा पूर्ण हो जाने के कारण हम सभी हर्षविभोर थे। हम लोगों के लिए स्वामी विवेकानन्द मानो 'मूर्तिमान् भारतवर्ष' और परमात्मा के पवित्र दूत थे।

स्वामीजी तब मद्रास में नौ दिन ठहरे थे और मैं अधिकांशतः उनके पास ही रहा करता था। उस दौरान प्रायः पूरे दिन ही आगन्तुकों का आना-जाना लगा रहता था। बहुत-से लोग चुपचाप उनके निकट बैठकर उनकी बातें सुना करते थे। कुछ लोग महत्वपूर्ण समस्याओं पर उनके साथ विचार-विमर्श भी किया करते थे। उनके थोड़े-से कुछ अन्तरंग मित्र तथा प्रशंसकगण उनके साथ दक्षिणी भारत में वेदान्त-धर्म के प्रचार की उनकी योजना पर भी चर्चा करते थे। मैं निरन्तर स्वामीजी के साथ ही रहा करता था। उन्हें स्मरण था कि १८९२ ई. में वे हमारे त्रिवेन्द्रम के घर में ठहरे थे। मुझे अपने सामने बैठा देखकर उनके नेत्रों में जो एक नयी चमक आ जाती और उनके गतिशील अधरों पर जो एक दिव्य मुस्कान प्रगट हो जाती, उन्हें मैं आजीवन भूल नहीं सकूँगा। मेरे पिता प्रो. के. सुन्दर रामन् उन दिनों मद्रास में ही थे और वे स्वामीजी से कई बार मिले। उन्होंने स्वामीजी के मद्रास में नौ दिनों के प्रवास विषय पर एक सुदीर्घ लेख लिखा था, जो 'स्वामीजी के साथ मेरी दूसरी नवरात्रि" शीर्षक के साथ 'वेदान्त-केसरी' के जनवरी-फरवरी, १९२३ के अंकों में प्रकाशित हुआ था।

१८९२ के और १८९७ के स्वामी विवेकानन्द में जो भेद मेरे ध्यान में आया, वह यह था कि १८९२ में उन्हें ज्ञात था कि उनकी नियति में बहुत-कुछ करना लिखा है, पर वह कब, कहाँ और कैसे होगा, यह उन्हें निश्चित रूप से मालूम न था। लेकिन १८९७ में उन्हें देखकर ऐसा लगा था मानो भाग्य के साथ उनका मिलन हो चुका है, वे अपने जीवन का ध्येय को स्पष्ट रूप से जान चुके थे और उन्हें उसके रूपायन का पूर्ण विश्वास था। वे आज्ञाएँ देते हुए तथा उनके निष्ठा-पूर्वक पालन के विषय में आश्वस्त होकर, बेहिचक सधे हुए कदमों के साथ अपने निर्धारित पथ पर अग्रसर हे रहे थे।

१८९७ का एक अन्य अनुभव जो मुझे याद है वह यह कि मैंने स्वामीजी द्वारा गाये हुए भजन सुने थे। उनका स्वर संगीतमय है – यह तो मैं १८९२ में ही जान गया था, परन्तु बाद में मुझे ज्ञात हुआ कि उनके गाये हुए भजन सुनकर परमहंस श्रीरामकृष्ण देव को समाधि लग जाती थी। उनके

कैसल कर्नन में नौ दिनों के निवास के दौरान हम लोगों ने उनके मुख से जयदेव द्वारा रचित 'गीत-गोविन्दम्' ग्रन्थ से लिया हुआ 'अष्टपदी' का गायन सुना था । हमारे दक्षिणी भारत की तुलना मे बंगाल में उस स्तोत्र को गाने के स्वर तथा लय भिन्न थे । स्वामी विवेकानन्द की यह मधुर स्वरलहरी भी मेरे अन्तर में एक अमिट छाप छोड़ गयी ।

एक शाम एक अद्‌भुत तथा असाधारण घटना हुई । एक पुरातनपन्थी पण्डित सहसा आगन्तुकों के बीच से उठकर खड़े हो गये और उन्होंने स्वामीजी से संस्कृत भाषा में स्पष्ट रूप से एक अप्रत्याशित प्रश्न कर दिया, "सुना है कि आप ब्राह्मण नहीं हैं और शास्त्रो के मतानुसार आपको संन्यास लेने का अधिकार नहीं है । तो फिर आपने किस प्रकार गेरुआ धारण किया है और संन्यासियो के पवित्र संघ में प्रविष्ट हो गए है?" ऐसे व्यक्ति के साथ वाद-विवाद में उलझना अनावश्यक समझकर स्वामीजी उन्हें चुप करने के लिहाज से बोले, "मैं उन चित्रगुप्त के वंश का हूँ, जिन्हे प्रत्येक ब्राह्मण सन्ध्या के समय प्रार्थना करता है । अत: यदि ब्राह्मणों को संन्यास में अधिकार है, तो फिर मेरा तो उनसे भी कहीं अधिक है ।" इसके बाद स्वामीजी ने पण्डित पर उल्टा आक्रमण करते हुए कहा, "आपके संस्कृत प्रश्न में एक ऐसा गलत उच्चारण हुआ है, जो अक्षम्य है । 'न म्लेच्छितं वै नापभाषितं वै' कहकर पाणिनी ने इसकी निन्दा की है । अत: इस प्रकार की चर्चा करने का आपको अधिकार नहीं है ।" पण्डित जी इससे बड़ी मुश्किल मे पड़े और उन्होंने देखा कि श्रोता भी स्वामीजी के ही पक्षधर है, अत: वे धीरे से उठकर चल दिये ।

मद्रास में 'मेरी समरनीति' विषय पर स्वामीजी के प्रथम सार्वजनिक व्याख्यान ने मेरे मन पर एक गहरा तथा अमिट प्रभाव छोड़ा । उनके शब्दों ने मुझे रोमांचित कर दिया था और मेरी आँखें नम हो गयी थी । उन व्याख्यान को सुननेवाले अन्य अनेक लोगों की भी यही अवस्था थी । हम लोगों में से कुछ ने तत्काल यह प्रतिज्ञा की कि हम में से प्रत्येक भारतीय जनता की अज्ञानता, निर्धनता तथा दु:ख को दूर करने का यथासाध्य प्रयास करेगा ।

वहाँ मैंने स्वामीजी का 'वेदान्त और भारतीय जीवन' विषय व्याख्यान भी सुना था । 'भारत के महापुरुष' विषय पर दिया हुआ उनका एक अन्य व्याख्यान ने भी मुझे गहराई से प्रभावित किया ।

अन्त में मैं १९५२ ई. के मई में हुए अपने एक अभूतपूर्व अनुभव के बारे मे बताना चाहूँगा । उन दिनों मैं उत्तरी भारत के तीर्थो का भ्रमण कर रहा था । उस समय कुछ घण्टे बेलूड़ के रामकृष्ण मठ में बिताना मेरे लिए बड़े सौभाग्य तथा आनन्द की बात थी । बेलूड़ मठ का परिदर्शन करानेवाले दयालु संन्यासी अन्तत: मुझे स्वामी विवेकानन्द के उस कमरे में भी ले गये, जिसमें उन्होंने अपने जीवन का अन्तिम काल बिताया था । सामान्यतया किसी भी आगन्तुक को उस कमरे में जाने नहीं दिया जाता । परन्तु मुझे वहाँ ले जानेवाले संन्यासी बोले, "आप अपनी किशोरावस्था से ही स्वामीजी के सम्पर्क में थे और अपने आदरणीय पिता के समान ही आप आजीवन रामकृष्ण मिशन के प्रशंसक तथा अनुगामी रहे हैं, अत: हम अपवाद के रूप में बड़े हर्षपूर्वक आपको भीतर जाने देंगे ।"

मैंने अगाध श्रद्धा के साथ सांस रोककर उस पवित्र कक्ष में पदार्पण किया । कमरे की खिड़की से गंगा का दृश्य दिखाई दे रहा था । उस कक्ष का वातावरण पवित्रता, गम्भीरता तथा शान्तता के भाव से स्पन्दित तो रहा था । मैंने कमरे के बाहर फैली भव्य दृश्यावली के सौन्दर्य का डबडबायी आँखों के साथ छककर पान किया और उस स्थान की पवित्रता का गहराई से बोध किया । मैंने वहाँ थोड़ी देर बैठकर स्वामीजी का ध्यान करते हुए उनकी भारत, हिन्दू धर्म तथा सम्पूर्ण विश्व में आध्यात्मिकता के प्रचार हेतु उनकी अतुल्य सेवाओं पर चिन्तन किया । स्वामीजी के निवास से पुनीत उस कमरे के भीतर मुझे अनुभव हुआ कि मेरे हृदय में (गीता में उल्लिखित) ज्ञानदीप प्रज्ज्वलित हो उठा है । ❖

(अंग्रेजी मासिक 'प्रबुद्ध-भारत' के सितम्बर-अक्तूबर १९५३ अंकों में प्रकाशित)

(पृष्ठ ७२ का शेषांश)

समय का सदुपयोग करने के लिये दिनचर्या का प्रारम्भ सुबह उठने से करना चाहिये । वस्तुतः हमारे जीवन में समय का प्रारम्भ ही तब होता है जब हम सोकर उठते हैं। तथा अपने विभिन्न दैनिक कार्यों में लग जाते हैं । अतः दिनचर्या का प्रारम्भ प्रातः उठने से करें। प्रातः उठने से रात सोने तक प्रत्येक कार्य के लिये समय निर्धारित कर लें तथा क्रमवार प्रत्येक कार्य करते चलें । यहाँ तक कि खान-पान, सैर-सपाटे, मनोरजन, आमोद-प्रमोद आदि सभी कार्यों के लिये एक समय निर्धारित कर लें तथा उसके अनुसार कार्य करें । इस प्रकार कार्य करने पर हम समय का अधिक से अधिक उपयोग कर सकेंगे, तब हमारे पास सभी आवश्यक कार्य करने का समय रहेगा । हमारे सभी कार्य सुव्यवस्थित एव सुन्दर होंगे । हमारा वर्तमान सुख और शान्ति पूर्ण होगा । जीवन की सफलता का यही रहस्य है । ❖

आचार्य रामानुज (२)

स्वामी रामकृष्णानन्द

(स्वामी विवेकानन्द के अमेरिका से वापस लौटने पर मद्रास नगर की जनता ने उनसे हार्दिक अनुरोध किया कि उस प्राचीन नगरी मे भी अपने युगधर्म-प्रचार का कार्य आरम्भ करें। इसी के उत्तर में उन्होने अपने गुरुभाई स्वामी रामकृष्णानन्द को वहाँ भेजा। उन्होंने वहाँ की स्थानीय आध्यात्मिक परम्परा से देशवासियों का परिचय कराने के लिए सद्य:प्रकाशित बँगला मासिक 'उद्बोधन' के लिए श्री रामानुजाचार्य के जीवन पर एक लेखमाला लिखी, जो बाद में पुस्तकाकार भी प्रकाशित हुई। 'विवेक-ज्योति' के पाठकों का भी इन प्रात:स्मरणीय महापुरुष के जीवन तथा भावधारा से परिचय कराने हेतु हम इसके हिन्दी अनुवाद का धारावाहिक प्रकाशन कर रहे हैं। – सं.)

४. पेरिय, आण्डाल और तोंडरड़िप्पोड़ि आलवार

ज्येष्ठे स्वातीभवं विष्णुरथांशं धन्विन: पुरे।
प्रपद्ये श्वशुरं विष्णो: विष्णुचित्तं पुर:शिखम्।।९।।

– मैं उन सर्वजनशिरोमणि भक्तश्रेष्ठ विष्णुचित्त की शरण लेता हूँ, जो ज्येष्ठ मास के स्वाति नक्षत्र में धन्विन:पुर (श्रीविल्लिपुत्तुर) नगर में विष्णु के रथांश से पैदा हुए और जो विष्णु के श्वसुर के रूप में विख्यात है।

इन महापुरुष की कन्या का नाम आण्डाल था। आण्डाल बाल्यकाल से ही विष्णु की सेवा में लगी रहतीं और कहतीं कि वे नारायण के अतिरिक्त अन्य किसी के साथ विवाह नहीं करेंगी। वयस्क होने पर पिता उनके विवाह के लिए चिन्तित हुए, परन्तु उनके नारायण को ही वरण करने का संकल्प जानकर, पिता किंकर्तव्यविमूढ़ हुए और नारायण का ध्यान करने लगे। कहते हैं कि उसी रात स्वप्न में स्वयं विष्णु ने ही उन्हे अभय देते हुए कहा था, "अपनी कन्यारत्न मुझे देने में संकोच मत करना। वे साक्षात् लक्ष्मी हैं।" उसी रात श्रीविष्णु-मन्दिर के पुजारी को भी स्वप्न में आदेश मिला, "कल प्रात:काल तुम विवाहोपयोगी समस्त सामग्री लेकर आण्डाल के पिता के घर जाना और आण्डाल को सुन्दर वेशभूषा में सज्जित करके पालकी में मेरे मन्दिर ले आना।" पुजारी ने ऐसा ही किया। जब आण्डाल के पिता को यह शुभसंवाद मिला, तो उनके आनन्द की सीमा न रही। आण्डाल पालकी मे बैठकर श्री पुरुषोत्तम के साथ विवाह करने लगी। उनके पीछे पीछे असंख्य लोग भी गये। उनके मन्दिर मे प्रवेश करने पर नारायण ने हाथ बढ़ाकर उन्हें ग्रहण तथा आलिगन किया। उस आलिगन से आण्डाल द्रवीभूत होकर श्रीविग्रह के साथ एकीभूत हो गई। उन्हें और कोई देख नहीं सका। उनके पिता को चिन्तित देखकर श्री पुरुषोत्तम ने मन्द हास्य के साथ कहा, "आज से आप मेरे श्वसुर हुए। आप घर लौट जायँ। आपकी कन्या सर्वदा मुझमें ही रहेंगी।" आण्डाल के पिता हर्षोत्फुल्ल चित्त तथा रोमांचित शरीर के साथ सर्वजीवों के पालनकर्ता परमपुरुष विष्णु को बारम्बार साष्टांग वन्दना करने के बाद घर लौट आए। उसी दिन से वे 'पेरिय आलवार' अर्थात् 'सर्वश्रेष्ठ भक्त' के नाम से विख्यात हो गये। उनका जन्म ईसापूर्व सन् ३०५६ में हुआ था।

आषाढ़े पूर्वफल्गुन्यां तुलसी काननोद्भवाम्।
पाण्ड्ये विश्वम्भरां गोदां वन्दे श्रीरंगनायिकाम्।।१०।।

– आषाढ़ मास के पूर्वफाल्गुनी नक्षत्र में पाण्ड्यदेश में स्थित तुलसीकानन में जिनका जन्म हुआ, जो विश्वजननी लक्ष्मी की मूर्तिविशेष हैं, साक्षात् वाग्देवी होने के कारण वाग्विन्यास में निपुण हैं, मैं उन श्रीरंगनाथ की महिषी[1] आण्डाल की वन्दना करता हूँ।

श्रीलक्ष्मीदेवी ने स्वयं को तीन मूर्तियों में विभाजित किया है। श्रीदेवी उनका प्रथम रूप है। ये विष्णु की वक्षस्थल-विलासिनी हैं। भूदेवी उनका दूसरा रूप है। ये श्रीमन्नारायण की दृष्टि रूप विलासक्षेत्र हैं। नीलादेवी इनका तीसरा रूप है। इस रूप में वे नारायण के माधुर्य तथा महिमादि का कीर्तन करके और हरिप्रेम रूपी मदिरा पानकर निरन्तर विह्वल तथा उन्मत्त हो स्वयं को कृतार्थ मानती हैं। ये नीलादेवी ही आण्डाल के रूप में अवतीर्ण हुई थीं।

कहते हैं कि एक पार पेरिय आलवार श्री विष्णु के सेवार्थ तुलसी चुनने अपने तुलसीकानन में गये। तुलसी चयन करते करते सहसा एक परम सुन्दरी, स्मितविकसित-आननां, चंचल छोटी-सी बालिका को भूमि पर लेटे देखकर उनके हृदय में विस्मय तथा प्रगाढ़ वात्सल्य का संचार हुआ। वे नि:संतान थे। उन्होने कन्या-रत्न पाकर स्वयं को कृतार्थ माना। बालिका में शैशवकाल से ही नारायण के प्रति स्वाभाविक प्रीति दीख पड़ी। उन्हें अन्य बालक-बालिकाओं के साथ खेलना पसन्द न था। वे देवमन्दिर के सम्मुख बैठकर स्वगत में न जाने क्या क्या कहतीं, कभी हँसती, तो कभी श्रीविग्रह के प्रति नाराज होकर अभिमानपूर्वक रोते हुए आकुल हो उठतीं और सान्त्वना देने पर परम आनन्द के साथ ताली बजाते हुए नृत्य करतीं। कभी, किसी के न रहने पंर, वे देवालय मे प्रवि[illegible] होकर नारायण के लिये चढ़ाई हुई माला अपने गले में धारण करतीं

१. श्रीरंगनाथ की महिषी – श्रीरंगम् क्षेत्र मे सात प्राचीरों से घिरे मन्दिर के भीतर जो शेषशायी नारायण की मूर्ति है, उन्ही का नाम श्री रंगनाथ है। उन्होने ही आण्डाल से विवाह करके अपनी राजमहिषी बनाया था।

और फिर वापस रख देतीं। यही उनका खेल था। एक बार उनके पिता ने देखा कि आण्डाल ने श्रीविष्णु के लिए बनी हुई तुलसीमाला को अपने गले में धारण कर लिया है। यह देखकर उन्होंने बालिका का तिरस्कार किया। उस दिन विष्णु को माला नहीं दिया जा सका। रात को विष्णु ने स्वप्न में आकर उनसे कहा, "आज मुझे तुमने तुलसीमाला क्यों नहीं दी? मैं अपने भक्तों के अंग से स्पर्श की हुई वस्तु से और भी सन्तुष्ट होता हूँ। आण्डाल को मानुषी मत समझना।" अगले दिन पेरिय आलवार ने देखा कि पिछले दिन आण्डाल द्वारा परिहित तुलसीमाला शुष्क न होकर ताजी बनाई गई नई माला से भी अधिक उज्ज्वल तथा कान्तिमान होकर शोभित हो रही है। उन्होने द्विधा छोड़कर तत्काल वह माला उठाकर श्रीविग्रह को पहना दी और उस दिन अपने इष्टदेव के असाधारण सौन्दर्य का विकास देखकर वे रोमांचित हो गये और नेत्रों से प्रेमाश्रु बहाते हुए परम शान्ति का अनुभव करने लगे।

आण्डाल वयस्क हो जाने पर भी बालिका के समान ही सरल तथा कृष्णगतप्राण थीं। विष्णुभक्ति मानो मूर्तिमन्त होकर आण्डाल के रूप में अभिव्यक्त हो रही थी। उन्होंने मधुर वाग्विन्यास सह, प्रेमरूपी अमृत-सरोवर में निमज्जित कर, तमिल भाषा में जिन तीन सौ अनुपम स्तोत्रों की रचना की है, वे चिरकाल तक भक्तजन की सर्वोत्कृष्ट सम्पदा के रूप में परिगणित होंगी। मानो उनके प्रेमघन हृदय ने ही द्रवीभूत होकर उन स्तोत्रों का रूप धारण कर लिया है।

वे सर्वदा मधुर वाणी ही बोलती थीं, इसीलिए उनका अन्य एक नाम गोदा है। गां (मनोहरां) वाचं ददाति (सर्वस्मै) प्रयच्छति इति गोदा। इन मधुरभाषिणी का श्रीरंगनाथजी ने पाणिग्रहण किया था, अत: उन्हें रंगनायिका भी कहते हैं। वे ईसापूर्व सन् ३००५ में धरणीतल पर अवतीर्ण हुई थीं।

कोदण्डे ज्येष्ठानक्षत्रे मण्डङ्गुडि पुरोद्भवम्।
चोलोर्व्यां वनमालांशं भक्तांघ्रिरेणुमाश्रये ।।११।।

– जिन्होंने पौष मास के ज्येष्ठा नक्षत्र में चोलराज्यस्थ (त्रिचनापल्ली के निकट) मण्डङ्गुड़िपुर में जन्म ग्रहण किया, मैं उन्हीं 'भक्तपदरेणु' नामक श्रीविष्णु के वनमालांश से अवतीर्ण भक्तश्रेष्ठ की शरण लेता हूँ।

तमिल भाषा में इनका नाम तोंडरड़िप्पोड़ि (भक्तपदरेणु) आलवार है। इन्हें श्रीविष्णु के लिये माला गूँथने से लगाव था, इसलिए भक्तों ने इन्हें श्री वनमाला का अंशावतार माना है। नारायण की सेवा के अतिरिक्त ये और कोई कार्य नहीं करते थे। भगवान उनकी पूजा से अतीव सन्तुष्ट होते थे। इन्होंने ईसापूर्व सन् २८१४ में जन्म लिया था।

कहते हैं कि एक बार श्रीमन्नारायण ने श्रीलक्ष्मी देवी के सम्मुख यह कहकर उक्त प्रेमिक-प्रवर की अतिशय प्रशंसा की थी कि त्रिभुवन में ऐसी कोई शक्ति नहीं, जो इनके मधुर हृदय के अविच्छिन्न प्रेमप्रवाह में बाधक हो सके। इस पर श्री जगज्जननी ने मृदु हास्य के साथ कहा था कि स्त्री-कटाक्ष के लिये कुछ भी असाध्य नहीं है और अपनी बात को प्रमाणित करने के लिये उन्होंने तुरन्त ही पति के अनजाने ही अपनी एक दासी को निर्देश दिया कि वह मनोहर वेशभूषा धारणकर सर्वदा इन भक्तप्रवर की आँखों के सामने बनी रहे। एक समय वे अपने उद्यान से पुष्प आदि चुनकर माला गूँथ रहे थे कि उसी समय एक मुनिजन-मनमोहिनी, सर्वांग-सुन्दरी, कटाक्ष-वाण-वर्षिणी युवती, हाथ में एक दिव्य माला लिये, गद्गद मधुर सम्भाषण के साथ उनके समीप पहुँचकर कहने लगी, "प्रभो, दासी द्वारा निर्मित इस माला को आज कृपा करके श्री गोविन्दजी के श्रीकण्ठ में पहना देंगे? मैं परदेशी हूँ, यहाँ नई नई ही आई हूँ। यहाँ कुछ दिन रहने की इच्छा है। यहाँ मेरा सगा-सम्बन्धी कोई भी नहीं है। आप महापुरुष हैं, अत: सभी के आत्मीय हैं। इसीलिये साहस करके मैं आपके श्रीचरणों में उपस्थित हुई हूँ।"

सुन्दर माला देखते ही भक्त के मन में सहज ही उससे अपने इष्टदेव को सजाने की इच्छा हुई और युवती की मधुर वाणी सुनकर हृदय भी थोड़ा द्रवीभूत हुआ। उन्होंने बड़े आग्रहपूर्वक उसे स्वीकार किया। तब से वह सुन्दरी प्रतिदिन उनके पास एक सुन्दर माला ले आती और दासी के समान उनके पुष्पोद्यान में वारि-सिंचन किया करती। युवती की सौजन्यता तथा मधुर स्वभाव देखकर महाभक्त का मन भी क्रमश: श्रीगोविन्द के चरणपथ से स्खलित होने लगा और धीरे धीरे उस युवती का चिन्तन उनके मन पर अधिकार करने लगा। अन्तत: वे ईश्वर के लिए उन्मत्त होने के स्थान पर उस युवती के संग की इच्छा से आकुल हो गये। युवती ने अपने हाव-भाव, कटाक्ष तथा रूप-लावण्य की सहायता से उन्हें और भी मोहित किया। आखिरकार अधीर होकर जब उन्होंने उस बाला के समक्ष अपना मनोभाव व्यक्त किया, तो उसने उनके समक्ष स्वर्णमुद्रा की माँग रखी। निर्धन ब्राह्मण निरुपाय होकर रोने लगे। उस दिन उनका मन्दिर में जाना नहीं हो सका। नारायण अपने सेवक की अनुपस्थिति का कारण समझकर स्वयं ही छद्मवेश में उनके पास पहुँचकर अपना स्वर्णपात्र देते हुए बोले, "रो क्यों रहे हो? इसे लेकर अपनी अभिलाषा पूर्ण करो।" जब ब्राह्मण ने अतीव हर्ष के साथ द्रुत वेग से वारांगना के घर में प्रवेश किया, तो वहाँ उसके स्थान पर श्री लक्ष्मी के साथ अपने इष्टदेव को आसीन देखकर लज्जा तथा आत्मग्लानि से मृतप्राय हो गये और बोले, "हे दयानिधे, आज आपने मेरा नरक से उद्धार किया है, आपकी कृपा का अन्त नहीं।" इतना कहकर वे प्रेमाश्रु विसर्जित करने

लगे। उसी दिन से वे हरिप्रेम में पूर्णत: उन्मत्त हो गये। उनके अन्तर में यथार्थ ज्ञान का उदय हुआ। इस घटना के बाद किसी भी युवती का कटाक्ष उन्हें मोहित नहीं कर सका।

५. पोयगै, भूतत्त तथा पेय आलवार का मिलन

पोयगै, भूतत्त तथा पेय आलवारों के विषय में एक सुन्दर कथा सुनने में आती है। एक दिन आकाश बादलों से आच्छन्न था और बिजली की कड़क तथा ओलों के साथ घनघोर वर्षा होने लगी। वायुदेवता ने क्रोधमय मूर्ति धारणकर आँधी की सहायता से प्रकृतिदेवी को और भयंकर बना दिया। दो दिन तक इसी प्रकार निरन्तर आँधी-पानी का राज्य चलता रहा। रास्ते सुने पड़े थे। अत्यन्त निर्धन तथा गृहहीन लोग भी पर्वतीय गुफाओं तथा वृक्षों की कोटरों में आश्रय लेकर प्रचण्ड वायु तथा बृहदाकार शिलावृष्टि के निर्दय प्रहार से बचने का प्रयास कर रहे थे।

उसी समय वृक्षलताहीन एक सुविस्तीर्ण मैदान में एक ठण्ड से काँपता, जीर्ण वस्त्र परिहित, उन्मत्तवत पथिक स्वभाव से ही परछिद्रान्वेषी एवं निष्ठुर वायु के हाथों का खिलौना-सा बन गया था। मानो उसकी फटी-पुरानी चादर पर ही वायु का सारा आक्रोश निकल रहा था। उसे उसी से वंचित करने के लिये वायु ने मानो अपना सारा वेग उसी पर केन्द्रित कर दिया था। परन्तु उसके निरन्तर दोनों हाथों से सावधानीपूर्वक उत्तरीय की रक्षा में लगे रहने के कारण कुछ कर पाने में असमर्थ होकर वह 'गों गों' की ध्वनि के साथ अपना प्रचण्ड क्रोध तथा असन्तोष व्यक्त कर रहा था। वायु की दुर्बलता देखकर मेघमाला ने उसकी सहायता करने के निमित्त एक बड़ा-सा ओला पथिक के सिर की ओर गिराया। उसके दोनों हाथ उठाकर सिर को बचाने का प्रयास करते समय, चादर पर से उसकी पकड़ ढीली पड़ते ही वेगवान वायु उसे तुरन्त उड़ा ले गया। क्रूर प्रकृति ने यह देख उत्फुल्ल होकर विद्युत-प्रकाश तथा मेघगर्जन के द्वारा खिलखिलाकर हँसते हुए वज्रनिर्घोष के साथ वायु को शाबासी दी। प्रकृति उस सहनशील पथिक के शरीर के साथ ऐसा व्यवहार कर रही थी मानो वह रक्त-माँस से न बना हो, सुख-दुख परिशून्य तथा जड़पिण्ड मात्र हो। वायु द्वारा उत्तरीय छीन लेने पर जन चपला प्रकृति हँस पड़ी तो पथिक भी मानो उस परिहास को समझकर दुख न व्यक्त करते हुए निम्नलिखित गीत के द्वारा अपने पवित्र हृदय के विपुल हर्ष को व्यक्त करने लगा –

हे हरि, तुम चपल-स्वभाव इधर उधर दौड़ते हो,
स्वयं नाचते हो और दूसरों को भी नचाते हो ।।
किसी को तुम अपने सुमधुर हास्य से भुलाते हो,
बंशी बजाकर तुमने गोपियों का मन मोहा था ।।
जगत को तो तुमने अपने पेट में भर रखा है,
तथापि क्षुधापीड़ित होकर तुम नवनीत चुराते हो ।।
सरल गोपबालाएँ तुम्हारा यह छल न समझकर,
क्रोधपूर्वक तुम्हारी माँ से शिकायत करती हैं ।।
कभी तुम अपने मुखचन्द्र व भृकुटि को टेढ़ाकर,
किसी सरल ग्वाल-बाल को चकित कर देते हो ।।
और फिर तत्काल ही उसका आलिंगन कर,
उसके मुखमण्डल को बारम्बार चूमने लगते हो ।।
कभी तुम भयंकर तो कभी मनोहर रूप लेते हो,
कभी चपल तो कभी धीर-स्थिर हो जाते हो ।।
कभी तुम राजवेश धारण करते हो तो कभी दीनवेश,
वर्णन करके कोई कैसे तुम्हारा अन्त पा सकता है ।।
मेरा वस्त्र छीन तुम खिलखिलाकर हँसते हो,
तुम्हारी सारी चातुरी मेरे समझ में आ चुकी है ।।
हे हरि, जितना चाहो खेलो, और उपहास करो,
तुम्हारी यह चिर दास भी उसी में आनन्दित होगा ।।

इस घोर कष्ट से भी वे पथिक असन्तुष्ट या क्षुब्ध न होकर पुलकित-गात आनन्दपूर्वक नृत्य करते आगे बढ़ने लगे। दो दिन से उनका पेट खाली था। दो दिन आँधी व शिलावृष्टि के दौरान खुले मैदान में खिलौने के समान विभिन्न प्रकार से प्रताड़ित होकर भी वे प्रेमिक महापुरुष उस ताड़ना के फलस्वरूप अभूतपूर्व परमानन्द से मुहुर्मुहु: पुलकित होकर नृत्य कर रहे थे। अब तक उन्हें अपने शरीर का बोध न था। परन्तु दो दिन बाद उन्हें मानो कुछ थकान का अनुभव होने लगा। सामने उन्हें एक छोटी-सी कुटिया दीख पड़ी। वे उसी की ओर बढ़े। द्वार बन्द था। भीतर किसी के होने का आभास नहीं मिला। परन्तु द्वार भलीभाँति बन्द होने के कारण भीतर जाना सम्भव नहीं लगा। सामने एक सँकरा-सा पर्णाच्छादित छत था। उस पर बड़े कष्टपूर्वक कोई एक व्यक्ति कुत्ते की भाँति सिकुड़कर सो सकता था। थके हुए पथिक उसी छत में जाकर सो गये। सर्वसन्तापहारी निद्रा के मृदु स्पर्श से वे अभिभूत हो चुके थे। उसी समय दूसरी दिशा से उन्हीं-सी हालत वाले एक अन्य पथिक आए और उन्हें जगाकर पूछा, "महाशय, क्या यहाँ पर एक ठण्ड, वर्षा तथा आँधी से पीड़ित भूखे को विश्राम के लिये जगह हो सकती है?" इस पर वे बैठकर उनसे बोले, "आइये! शुभागमन कीजिये। जहाँ एक व्यक्ति के लिये सोने की जगह है, वहाँ दो लोगों को बैठने के लिये पर्याप्त जगह हो जायेगी।"

द्वितीय पथिक बड़े आग्रहपूर्वक जाकर उनके बगल में बैठे और थोड़ा विश्राम पाकर मानो उनके प्राण वापस लौट आए। जब निद्रादेवी दोनों के सन्ताप हरणार्थ उन्हें अपनी कोमल गोद में अभिभूत कर रही थीं, तभी पहले के दोनों पथिकों के समान ही दुर्दशाग्रस्त एक तीसरे पथिक भी उनके पास जा पहुँचे और उनसे पूछने लगे, "महाशयगण, क्या वहाँ पर तीसरे व्यक्ति

के लिये भी स्थान है?'' दानों पथिक खड़े होकर आग्रहपूर्वक कहने लगे, ''आइए! आइए! जिस जगह में दो जन बैठ सकते हैं, वहाँ तीन जन अनायास ही खड़े रह सकते हैं।'' इस पर तीसरे व्यक्ति भी उनके पास जा पहुँचे और उनकी थकान कम होने लगी।

तृतीय पथिक के आश्रय लेने के बाद ही सहसा आँधी-पानी शान्त हो गया। ऐसा लगा कि इन तीन पथिकों को संकट मे डालने के लिए ही उन्होंने ऐसा घोर मौसम उत्पन्न किया था। आकाश निर्मल हुआ। तरुण सूर्य चारों ओर अपना अमृतमय किरण बिखेरने लगे। उसी समय प्रथम पथिक ने देखा कि उस हास्यमयी प्रकृति की गोद मे शठ-शिरोमणि अपने चारों हाथों मे शंख-चक्र-गदा-पद्म धारण किये अपने मधुर हास्य से उनके मन को मोहित करते हुए विराजमान है। यह दर्शन पाकर उन्होने इन शब्दो में कुतूहलप्रिय हरि की वाङ्मयी पूजा करने लगे –

अब सखे, यह कैसा नया वेश?
वह कहाँ गया रुद्र का आवेश!
तुम्हारा मोहन रूप देख
प्राण-मन अति पुलकित हैं।।
इस धरा पर ऐसा क्या धन है,
जो तुम्हें देकर सन्तुष्ट करूँ!
इस धरादीप में अपार तेल है
बालसूर्य उसकी शिखा है;
प्राण भरकर मैं इसी दीप से
तुम्हारी आरती करता हूँ।।
प्रिय सखे मेरी यह पूजा स्वीकार करो
और अपने प्रेमडोर से इस दास को बाँध लो।।

द्वितीय पथिक ने भी आनन्द से उत्फुल्ल होकर उन भुवनमोहन की इन शब्दों के साथ पूजा की –

अहा! क्या ही मधुर है तुम्हारा रूप
देखकर मेरा सारा सन्ताप मिट गया।
प्रेमदीप में हृदय को पिघलाकर
और उसमें ज्ञान की शिखा जलाकर
मित्र! मैं अपने उन्मत्त प्राण के साथ
तुम्हारी आन्तरिक पूजा करता हूँ;
मेरी यह पूजा ग्रहण कर लो
और इस दास को प्रेमडोर से बाँध लो।

सुषमा के आगार श्रीहरि की रूपछटा से उन्मत्त होकर तीसरे व्यक्ति पूजा आदि के बारे में भूल गए। वे प्रेमविभोर नृत्य करते हुए गाने लगे –

देखा है सखे, आज तुम्हें देखा है
उस रूपछटा के जाल में पड़कर
छूटने के लिये सूर्य भी रोता है
तुम्हारी सुषमा के आगे चन्द्र-तारे भी
अपना मुख ढँककर छिप जाते हैं
मैं तुम्हारा चिरदास,
आज तुम्हारे चरणों में बिक गया हूँ।।

प्रेमान्माद में नाचते हुए ये प्रेमिक अचेत हो गये। योगियों का चित्त हरण करनेवाले हरि भी हास्यमयी प्रकृति की गोद में छिप गये।

पक्षीगण प्रभाती सुर में उनकी स्तुति गाने लगे। तीनों पथिक एक-दूसरे का परिचय पाकर आपस में पादवन्दना का प्रयास करते हुए प्रेमकलह में डूब गए। उनमें से प्रत्येक बाकी दोनों के दर्शन की अभिलाषा लेकर अपने अपने आश्रम से निकले थे और आखिरकार इस अद्भुत घटनाचक्र में पड़कर, विभिन्न प्रकार के दैवी प्रकोपों का अनुभव करने के बाद सहसा एक ही स्थान पर उनका सम्मिलन तथा भगवद्दर्शन हो जाने से उन लोगों ने स्वयं को परम कृतार्थ माना और निवृत्तिलाभ के पश्चात अलग अलग पथ से अपने इच्छित स्थानों की ओर प्रस्थान किया। प्रथम पथिक का नाम था पोयगै आलवार, द्वितीय का नाम था भूतत्त आलवार और तृतीय का नाम था पेय आलवार।

❖ (क्रमशः) ❖

स्तुति

विवेकानन्दरूपेण भारतोद्धारकारिणम्।
शारदामातृरूपेण पतितोद्धारकारिणम्।।
श्रीरामकृष्णरूपेण धर्मोद्धरणकारिणम्।
नतोऽस्मि परमात्मानं सर्ववेदान्तलक्षितम्।।

–सम्पूर्ण वेदान्त के लक्ष्य उन परमात्मा को मैं प्रणाम करता हूँ, जिन्होंने स्वामी विवेकानन्द के रूप में भारत का उद्धार किया, माँ सारदादेवी के रूप में पतितों का उद्धार किया और भगवान श्रीरामकृष्ण के रूप में धर्म का उद्धार किया।

शारदाद्युतियुक्ताय विवेकानन्दधर्मिणे।
नमस्तस्मै नमस्तस्मै श्रीरामकृष्णभानवे।।

– श्री सारदादेवी जिनकी आलोक हैं और स्वामी विवेकानन्द जिनकी उष्णता हैं, उन (भगवान) श्रीरामकृष्ण-सूर्य को मैं बारम्बार प्रणाम करता हूँ।

– *स्वामी हर्षानन्द*

जीना सीखो (२)

स्वामी जगदात्मानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जगदात्मानन्द जी ने युवकों को जीवन-निर्माण में सहायता करने हेतु कन्नड़ भाषा में एक पुस्तक लिखी थी, जो लोकप्रियता के कीर्तिमान स्थापित कर रही है । हाल ही में उसका अंग्रेजी अनुवाद भी प्रकाशित हुआ है । नयी पीढ़ी के मार्गदर्शन में इसकी उपयोगिता निःसन्दिग्ध है । दिल्ली के डॉ. कृष्ण मुरारी ने 'विवेक-ज्योति' के लिए इसका सुललित हिन्दी अनुवाद किया है । – सं.)

योजना द्वारा सफलता

आधुनिक युग में योजना का बड़ा महत्व है । कर्नाटक की प्रगति तथा व उन्नति के लिए बहुमुखी योजना बनाकर उसे साकार रूप देनेवाले थे – सर एम. विश्वेश्वरैया । जापान का अद्भुत विकास उसकी सुदृढ़ योजनाओं तथा उनके क्रियान्वन द्वारा ही सम्भव हो सका है । अपनी योजनाओं तथा उनके रूपायन से ही सिंगापुर को भी विकासशील राष्ट्रों में अग्रणी होने सौभाग्य मिला । वैश्विक मापदण्डों के अनुसार देखें, तो उसके आकार की तुलना में उसकी उपलब्धियाँ बड़ी ऊँची है ।

मनुष्य को पहली बार चन्द्रमा पर मानव को पहुँचाने के लिय प्रायः १०,००० वैज्ञानिकों ने लगातार १० वर्षों तक अथक परिश्रम किया था । उत्कृष्ट योजना के ठीक ठीक फलीभूत होने का यह एक उदाहरण है । भविष्य के समृद्धशाली भारत की कल्पना करनेवाले नेताओं ने पंचवर्षीय योजनाओं के रूप में कई रणनीतियाँ बनाई हैं । निरन्तर बढ़ती जा रही जनसंख्या के फलस्वरूप भविष्य में होनेवाले अन्नाभाव के चलते जनता को भुखमरी से बचाने के लिए नियोजित परिवार की आवश्यकता का व्यापक प्रचार किया गया । भविष्य के लिए बनायी जानेवाली योजनाओं में जीवन-बीमा का महत्वपूर्ण स्थान हो गया है । समाज, सरकार तथा छोटी-बड़ी संस्थाएँ – सभी अल्प या दीर्घकालिक योजनाओं को लेकर चल रहे हैं ।

आधुनिक चेतना से युक्त कोई भी व्यक्ति भविष्य के बारे में सोचे बिना नही रह सकता । कोई भी समझदार व्यक्ति भविष्य की दृष्टि से अपने जीवन का नियोजन करता है । हमारे पूर्वजों ने इहलोक मे निवास तथा परलोक-गमन के विषय में सुनिश्चित योजनाएँ बनायी थी । कालिदास अपने 'रघुवंश' में कहते हैं –

शैशवेऽभ्यस्त-विद्यानां यौवने विषयैषिणाम् ।
वार्द्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम् ।। (१/८)

– "रघुवंश के राजागण बाल्यकाल में विद्या अर्जित करते थे, युवावस्था में गृहस्थ-जीवन का सुख लेते हुए अपने कर्तव्य का निर्वाह करते थे, वृद्धावस्था में ध्यान-चिन्तन तथा साधना में व्यतीत करते थे और अन्ततः योग-मार्ग से देहत्याग कर देते थे।" विंस्टन चर्चिल कहते हैं, "देश के भविष्य का निर्माण करने की इच्छा रखनेवाले नेता को उस देश द्वारा हजारों साल से अपनाए हुए मार्ग का अनुसरण करना चाहिए।" व्यक्तिगत जीवन के निर्माण में भी अपनी वंश-परम्पराओं तथा परिवेश के प्रति सजगता का बोध पूर्णतया अनिवार्य है ।

जब 'वर्तमान में ही जीने' पर बल दिया जाता है, तो इसका अर्थ यह नहीं कि हम अतीत की घटनाओं को विस्मृत करके अपनी पुरानी भूलों से कुछ न सीखें तथा अपनी शक्तियों का लाभ न उठाएँ । इसका यह तात्पर्य भी नहीं है कि हम भविष्य के लिए विशिष्ट योजनाएँ न बनाएँ या उनमें संशोधन न करें । बनायी गयी योजनाओं को फलीभूत बनाने के लिये वर्तमान का पूरा उपयोग करना होगा और अपने प्रयासों को उनकी चरम सीमा तक ले जाना होगा । ऑस्लर के शब्दों का यही मर्म है ।

एक बार एक मनोवैज्ञानिक ने विभिन्न प्रकार के तीन हजार लोगों से प्रश्न किया, "सामान्यतया आप अपना समय कैसे बिताते हैं? आपका मन मुख्यतः किन चीजों में लगता है?" लोगों के विभिन्न प्रकार के उत्तर सुनकर वह चकित रह गया । ९४ प्रतिशत लोगों ने बताया कि वे बिना किसी सुनिश्चित लक्ष्य या कार्ययोजना के ही एक सुनहरे भविष्य की कल्पना में अपना समय बिताते हैं । कुछ लोगों को आशा थी कि उनके अच्छे दिन आसन्न हैं और उम्मीद रखते थे कि उनके बच्चे बड़े होकर धनोपार्जन करके उनका भरण-पोषण करेंगे । कुछ अन्य लोगो का विचार था कि ग्रहों की स्थिति बदले बिना कुछ नही हो सकता और वे इसके लिए अगले साल की प्रतीक्षा कर रहे थे । कुछ ने बताया कि उनके ऊपर के अधिकारी ही उनके समस्त कष्टों का कारण हैं और वे उनकी शीघ्र मृत्यु की कामना करते थे । और कुछ अन्य लोग अनेक दिनों, महीनों या वर्षों से अपने लिए एक उत्तम भविष्य की प्रतीक्षा कर रहे थे । उनमें से कुछ लोग तो मानो समुद्र में स्नान करने के लिये तरंगो के शान्त हो जाने की प्रतीक्षा कर रहे थे ।

आपको जीवन में सफल होना है । परन्तु ऊँचे वृक्ष पर लगे फल को पाने की आशा लेकर क्या आप अपने हाथ के फल को फेंक डालेंगे? एक एक सीढ़ी पर चढ़ने का प्रयास किये बिना सफलता के शिखर पर पहुँचने की कल्पना करना क्या शेखचिल्ली के स्वप्न के समान निरर्थक नहीं है?

कुछ लोगों के लिए वर्तमान से तात्पर्य मात्र अतीत की जुगाली करना या फिर भविष्य के लिए दिवा-स्वप्न देखते रहना

है । परन्तु पहले हमें वर्तमान की घटनाओं को समझना होगा । केवल वर्तमान में कार्य करनेवाले सामान्य लोग ही सफलता की उपलब्धि करेंगे । अत: सरलतम समाधान यह है कि हमें अतीत से सीखना होगा और भावी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए वर्तमान में उत्साहपूर्वक कार्य करना होगा ।

जंगलीपन से सौम्यता की ओर

अमेरिका के फादर एडवर्ड जोसेफ फ्लेनगन (१८८६-१९४८) कैथलिक परम्परा के एक पुरोहित थे । उन्होंने उन किशोर-अपराधियों को सुधारने का बीड़ा उठाया, जो संगठित अपराधियों के कुसंग में पड़कर हत्या, लूटपाट, हिंसा तथा क्रूरता जैसे कार्यों में लिप्त हो जाते थे । उसके द्वारा स्थापित 'बालनगर' में सभी जातियों तथा सम्प्रदायों के अनाथ बालक थे । पथभ्रष्ट अपराधी बालकों को भले तथा सदाचारी नागरिकों में रूपान्तरित करने में, वे जो प्रयास तथा धैर्य दिखाते थे, वह अतुलनीय था । पुलिस द्वारा पकड़े गये युवकों को वे अपने 'बालनगर' में ले आते । उन लोगों के आपराधिक कार्यों का दोषी पाये जाने के बावजूद फ्लेनगन का विश्वास था कि प्रत्येक व्यक्ति मूलत: भला है और वे अपनी इसी धारणा के अनुरूप उनके साथ व्यवहार करते थे । उन्होंने उन लोगों पर विश्वास किया, उन पर प्रेम की वर्षा की, उनके द्वारा दिए गये सभी कष्टों तथा किये गये सभी उत्पातों को सहा और उनके कल्याण के लिए प्रार्थना तथा उनके उत्थान हेतु परिश्रम किया, ताकि उनकी गाड़ी एक बार फिर सही रास्ते पर लग जाय । इस प्रकार फ्लेनगन सबका प्रिय और प्रेम, सहनशीलता तथा सेवा-भाव का जीवन्त निदर्शन बन गया ।

फ्लेनगन का दृढ़ विश्वास था कि बच्चों को झिड़की, गाली या सजा के द्वारा नहीं, बल्कि उनके समक्ष एक अनुकरणीय आदर्श चरित्र प्रदर्शित करके ही उनका दिल जीतकर उन्हें सुधारा जा सकता है । 'बालनगर के फादर फ्लेनगन' नामक पुस्तक में वर्णित निम्नलिखित घटना से पता चलता है कि किस प्रकार उन्हें एक अत्यन्त हिंसक तथा क्रूर युवक को सुधारने में सफलता मिली थी ।

अपने माता-पिता का देहान्त हो जाने से एड्डी चार वर्ष की आयु मे ही अनाथ हो गया था । आठ वर्ष की आयु में वह एक अपराधी संगठन का नेता बनने की क्षमता हासिल कर चुका था । एक विचित्र बात यह भी थी कि उसके दल के अधिकांश अपराधी आयु में उससे बड़े थे । यहाँ तक कि युवकों ने भी इस बालक को अपना नेता मान लिया था । एड्डी ने हत्याएँ की थी । अपनी शक्ति का प्रदर्शन करने के लिये उसने अकेले ही एक बैंक को लूटा और हजारों डालर लेकर चम्पत हो गया । एक चुराई पिस्तौल की सहायता से उसने अनेक होटलों को लूटा । एक ऐसे ही अवसर पर, जब वह एक वृद्धा की हत्या करने के लिये गोली चलाने जा रहा था, तभी सुरक्षा-बलों ने उसे पकड़ लिया ।

जब वह 'बालनगर' पहुँचा, तो उसके मन में पुलिस का जरा भी भय न था । वह जान-बूझकर बदमाशी करता, दूसरों पर धौंस दिखाता, सामने आयी किसी भी चीज को लूट-खसोट लेता और अपनी कक्षा के अन्य लड़कों के प्रति अनुचित भाषा का प्रयोग करता । यहाँ तक कि वह सबके द्वारा सम्मानित फ्लेनगन का उल्लेख करते समय भी बुरे शब्दों का उपयोग करता । हर चीज को वह घृणा की ही दृष्टि से देखता । स्कूल के खेलकूद या वाद्यवृन्द में भाग लेना या खेत में काम करना – सब कुछ उसे ऊबाऊ ही लगता था । सार्वजनिक प्रार्थना के समय वह बिल्ली के आवाज की नकल उतारता । घण्टों परिश्रम करके दूसरे लड़कों द्वारा निपटाये हुए काम को वह क्षण भर में बरबाद कर डालता । 'बालनगर' में उसके आने के छह महीनों के बाद तक, उसके चेहरे पर मुस्कान की एक भी झलक और उसकी आँखों में आँसू की एक भी बूँद देखने में नहीं आयी । लोगों को लगता था कि 'सिर से पैर तक' उसमें केवल विष-ही-विष भरा था । यह सब छात्रावास के प्रबन्धक की सहन-सीमा से परे था । उसने फ्लेनगन को एक पत्र लिखा –

"प्रिय फादर फ्लेनगन,

"मैंने सुना है कि आपके मतानुसार इस जगत् में कोई व्यक्ति बुरा नहीं है । क्या आप मुझे बताएँगे कि इस एड्डी नामक लड़के के विषय में आपका क्या कहना है?"

एक रात सोते समय एड्डी कराह रहा था । उसके चेहरे की ओर देखते ही फ्लेनगन समझ गये कि उसे तेज बुखार चढ़ा हुआ है । यद्यपि वे एड्डी के अदम्य उपद्रवों से काफी कष्ट उठा चुके थे, तथापि फ्लेनगन ने उन्हें पूरी तौर से भुलाकर, अन्य छात्रों की अपेक्षा कहीं अधिक स्नेह-यत्न के साथ उसकी सेवा की ।

बीमारी से उठने के बाद भी फ्लेनगन, उनके शिक्षक साथी तथा सहपाठी उसकी ओर विशेष स्नेह तथा सद्भाव दिखाते रहे । वरिष्ठ लड़के मनोरंजन हेतु उसे सिनेमा दिखाने ले जाते । नाश्ते या भोजन के समय उसका विशेष ध्यान रखा जाता । उसके लिये किसी भी वस्तु का अभाव नहीं होने दिया गया । परन्तु इसके बावजूद एड्डी के चेहरे पर मुस्कान का कोई भी चिह्न दृष्टिगोचर नहीं हुआ ।

एक दिन एड्डी सीधा फ्लेनगन के कार्यालय में पहुँचकर बोला, "तो आप मुझे एक अच्छा लड़का बनाना चाहते हैं? क्या आपको लगता है कि इसमें सफलता मिलेगी? अभी अभी मैं मेट्रन को लात मारकर आ रहा हूँ । इस पर आपका क्या कहना है?"

फ्लेनगन ने दृढ़तापूर्वक उत्तर दिया, "मेरा अब भी यही विश्वास है कि मूलत: तुम एक अच्छे लड़के हो।"

"अभी अभी मैंने आपको क्या कहा? इसके बावजूद आप वही झूठ दुहराते जा रहे हैं। आप जानते हैं कि मैं अच्छा लड़का नहीं हूँ, तो भी आप कहे जा रहे हैं कि मैं एक अच्छा लड़का हूँ। बारम्बार एक ही झूठ बोलकर क्या आप अपने आपको एक पक्का मिथ्यावादी नहीं प्रमाणित कर रहे हैं?"

फ्लेनगन ने क्षण भर सोचा। उन्हें लगा कि लड़के के जीवन का एक महत्वपूर्ण मोड़ आ पहुँचा है। उन्होंने लड़के से पूछा, "बताओ तो, एक अच्छे लड़के की क्या पहचान है? यही न, कि वह अपने बड़ों का कहना मानता है?"

एड्डी ने हामी भरते हुए सिर हिलाया।

"यही न, कि वह अपने शिक्षकों का कहना मानता है?"

'हाँ', एड्डी बोला।

फ्लेनगन ने कहा, "तो फिर, तुम यही तो करते रहे हो। परन्तु एड्डी, यहाँ से पहले तुम्हें भले शिक्षक नहीं मिले। आवारा लोग तुम्हारे मार्गदर्शक थे और तुमने उन्हीं का कहना माना। वे लोग तुम्हें गलत रास्ते पर ले गये। तुमने उनका अनुसरण किया और सोचने लगे कि तुम सचमुच ही बुरे हो। परन्तु यदि तुम अच्छे शिक्षकों का अनुसरण करो, तो तुम भी अच्छे बन जाओगे।"

इन शब्दों ने एड्डी के मर्मस्थल का स्पर्श कर लिया। क्षण भर वह मौन खड़ा सोचता रहा। उसे लगा कि फ्लेनगन के शब्दों में कुछ सच्चाई अवश्य है। इससे उसके हृदय से यह धारणा दूर हो गयी कि मूलत: वह एक बुरा लड़का है। वह मेज के दूसरी ओर खड़े फ्लेनगन के पास गया। फ्लेनगन ने उसे अपनी बाहों में भरकर आलिंगन-पाश में बाँध लिया। लड़के की आँखों से आँसू फूट कर उसके कपोलों को भिगाने लगे।

दस वर्ष बाद एड्डी उच्च श्रेणी में पास होकर ग्रैजुएट हो गया। सेना में भर्ती होकर उसने युद्ध में भाग लिया। उसे विशिष्टता के लिए कई पुरस्कार मिले। उसे अपने मित्रों तथा परिचितों से भी स्नेह तथा सम्मान मिला। अब वह सबकी नजरो में एक विश्वस्त तथा ईमानदार व्यक्ति बन चुका था।

अपने अच्छाई के विषय में दृढ़ विश्वास ने उसके दिल में बसे हुए उसके मूलत: बुरे होने की धारणा को दूर कर दिया। फ्लेनगन को उस बालक में अन्तर्निहित दिव्यता पर पूर्ण विश्वास था। उनका विश्वास कितना फलदायी रहा! सन्देह तथा अविश्वास दृष्टि से देखा जानेवाले एक पथभ्रष्ट बालक ने अपनी अच्छाई में आत्मविश्वास पाकर अपने जीवन में काफी उन्नति कर ली।

प्रकाश लाओ

स्वामी विवेकानन्द ने कहा, "दुर्बलता का उपचार सदैव उसी का चिन्तन करते रहना नहीं, बल्कि अपने भीतर निहित बल का स्मरण करना है। मनुष्य को पापी न बतलाकर वेदान्त इसके ठीक विपरीत मार्ग ग्रहण करता है और कहता है – 'तुम पूर्ण तथा शुद्धस्वरूप हो और जिसे तुम पाप कहते हो, वह तुममें नहीं है।' जिसे तुम 'पाप' कहते थे, वह तुम्हारी आत्माभिव्यक्ति का निम्नतम रूप है; अपनी आत्मा को उच्चतर भाव में प्रकाशित करो। यह एक बात हम सबको सदैव याद रखनी चाहिए और इसे हम सभी कर सकते हैं। कभी 'नहीं' मत कहना, कभी मत कहना – 'मैं नहीं कर सकता', क्योंकि तुम अनन्त-स्वरूप हो। तुम्हारे स्वरूप की तुलना में देश-काल भी कुछ नहीं है। तुम सब कुछ कर सकते हो, तुम सर्वशक्तिमान हो।

"मैं भारतवासियों से बारम्बार कहता रहा हूँ कि यदि किसी कमरे में शताब्दियों से अन्धकार रहा हो और हम उसमें जाकर चिल्लाने लगें, 'हाय, यहाँ अँधेरा है, यहाँ अँधेरा है', तो क्या इससे वह अँधेरा दूर होगा? प्रकाश लाओ और अन्धकार तत्काल दूर हो जायेगा। लोगों को सुधारने का भी यही रहस्य है। उन्हें उच्च बातें बताओ। पहले मनुष्य में विश्वास करो। हम इस विश्वास के साथ भला क्यों आरम्भ करें कि मनुष्य पतित व भ्रष्ट है? मनुष्य में मैंने अपना विश्वास कभी नहीं खोया, चाहे वह कितना भी पतित क्यों न रहा हो। जहाँ कहीं भी मैंने मनुष्य पर विश्वास किया, यद्यपि आरम्भ में उसका फल इतना उत्साहजनक न भी रहा हो, पर अन्त में इसी की विजय हुई। कोई मनुष्य चाहे तुम्हें बड़ा विद्वान लगे या परम अज्ञानी, उस पर विश्वास करो। चाहे वह तुम्हें देवदूत प्रतीत हो, या फिर साक्षात् राक्षस, पहले मनुष्य पर विश्वास करो और इसके बावजूद यदि वह गल्तियाँ करता है, तो समझ लो कि उसमें त्रुटियाँ हैं; यदि वह अति अशुद्ध व अति व्यर्थ सिद्धान्तों को अपनाए तो जानो कि ऐसा वह अपने वास्तविक स्वरूप के कारण नहीं वरन् उच्च आदर्शों के अभाव में करता है। यदि कोई असत्य की ओर बढ़ता है, तो सत्य को पाने में उसकी अक्षमता ही इसका कारण है। अत: सत्य का बोध कराना ही मिथ्या को हटाने का एकमात्र उपाय है। ऐसा करके उसे तुलना करने दो।

"तुम उसे सत्य दे दो और तुम्हारा कार्य हो गया। वह स्वयं ही अपने मन की धारणा के साथ इसकी तुलना करे। और मेरी बातों पर ध्यान दो – यदि तुमने सचमुच ही उसे सत्य दिया है, तो मिथ्या अवश्य जाएगा, प्रकाश से अन्धकार का नाश होगा और सत्य भलाई को बाहर ला देगा।"

मूढ़मति से बुद्धिमान बनना

हमारे मिशन के छात्रावास के एक छात्र के पूर्ण रूपान्तरण के विषय मे मुझे मेरे एक संन्यासी भाई ने बताया था –

"एक बार मैं छात्रावास के कुछ छात्रों को बता रहा था कि हमारे देश के कितने बच्चे इतने भाग्यशाली हैं जिन्हें अच्छी शिक्षा मिल पाती है? अधिकांश माता-पिता पढ़े-लिखे नहीं है । सुदूर गाँवों में साधन भी नहीं है । प्रतिदिन पाठशाला जाना भी कठिन है । पाठशाला में धनाभाव के कारण एक या दो ही शिक्षक सैकड़ों छात्रो को पढ़ाते हैं । ४ या ५ वर्ष ऐसे पढ़ने के बाद ये छात्र जब बड़े नगरों के छात्रों से अपनी तुलना करते हैं नो उनमें हीनभावना आ जाती है । वे भय तथा घबड़ाहट का अनुभव करते हैं । परन्तु तुम लोग इतने भाग्यवान हो । तुम्हारे सामने कितने सुअवसर हैं ! एक उत्तम पुस्तकालय है । उच्च श्रेणी के छात्रों से मार्गदर्शन मिलता है । हम लोग तुम्हारे अध्ययन के सभी अवरोधों से तुम्हें मुक्त रखते हैं । यहाँ नियमित पढ़ाई के अतिरिक्त तुम्हारे ऊपर कोई भार नही है । फिर भी यदि कोई समस्या हो, तो हम हल करने की चेष्टा करते हैं । परन्तु यहाँ पर अध्ययन करने का जो अवसर ईश्वर से तुम्हें मिला है, उसका पूरा उपयोग करो । यदि हम प्राप्त अवसर का पूरा लाभ नही उठाएँगे, तो हमारे उत्थान का कोई मार्ग नहीं रह जायेगा । बाद में हमें पछताना होगा । मैं ऐसे ही समझा रहा था और छात्रगण चुपचाप सुन रहे थे ।

"रात को लगभग नौ बजे सातवीं कक्षा का एक छात्र निरंजन मेरे कमरे में आकर बोला, "स्वामीजी, मैं कुछ कहना चाहता हूँ ।" मैने कहा, "कहो ।" – "क्या आप मुझ अकेले को गणित पढ़ाएँगे?" – "ठीक है, मैं आधा घण्टा प्रतिदिन इसके लिये दूँगा । रात को भोजन के बाद मेरे पास आना ।"

"मुझे पता था कि वह एक आलसी तथा मन्दबुद्धि लड़का है । वह कभी परिश्रम नहीं करता था और परीक्षा में नकल भी मारता था । वह यथासमय मेरे पास पुस्तक लेकर आया । गणित में उसका ज्ञान तीसरी कक्षा का था । मुझे विश्वास नहीं था कि मैं उसे परीक्षा में पास होने लायक गणित पढ़ा सकूँगा, तो भी 'तुम निकम्मे हो, पढ़ नहीं सकते, तुम्हारे सिर में भूसा भरा है' आदि कहकर किसी का अपमान करना मैं अनैतिक समझता था । बुद्धिमान कहे जानेवाले छात्रों की धृष्टता को भी मैं जानता था । मेरे मतानुसार बुद्धि के साथ सरलता, नम्रता तथा विनय के योग से ही सच्चा चरित्र बनता है । उस बालक को बारम्बार निकम्मा कहकर उसके मन को जो क्षति पहुँचाई गई थी, उसे मैं दूर करना चाहता था । मैं उसे एक मौका देना चाहता था और मैंने कठिनाई की चिन्ता नहीं की ।

"मैंने उसे साढ़े तीन महीने तक प्रतिदिन रात में पढ़ाया । पहले मैने उसे १०० सरल प्रश्न हल करने को दिये । मैं उसका आत्मविश्वास तथा रुचि बढ़ाना चाहता था । बाद के ५० प्रश्न क्रमशः जटिल थे । पहले दिन उसने १० प्रश्नों को ठीक से हल किया । मैंने कहा, "शाबाश, तुम तो गणित सीख जाओगे ।" मैं चाहता था कि वह १०० प्रश्न ठीक से कर ले । ईश्वर की कृपा से ऐसा ही हुआ । जब सभी १०० प्रश्न उसने बिना त्रुटि के कर लिये, मैंने कहा, "कौन कहता है कि तुम गणित के प्रश्न हल नहीं कर सकते? देखो इनमें तुमने एक भी गल्ती नहीं की । इस बार तुम परीक्षा में ७०% अंक प्राप्त करोगे ।" आत्मविश्वास व उत्साह से उसका चेहरा दमकने लगा । वह प्रतिदिन सायं साढ़े आठ से साढ़े दस बजे तक गणित के प्रश्न हल करने लगा, कभी कभी वह उनमें खो जाता था । चार मास बाद परीक्षा में उसे ७०% अंक मिले – नकल से नहीं, बल्कि अकल से । उस समय उसे जो सन्तुष्टि तथा सुख मिला, वह अवर्णनीय था । उसका उत्साह खिल उठा । इससे मुझे भी कुछ सीखने को मिला । उसके माता-पिता उसकी सफलता के विषय में सुनकर छात्रावास में आये और मुझे बहुत धन्यवाद दिया ।

आत्मविश्वास जगाओ

"वह छात्र वास्तव में मन्दबुद्धि नहीं था । उसके पिता शिक्षित ही नहीं, विद्वान् भी थे । अपने अति-उत्साह के चलते उन्होंने पुत्र को जल्दी-से-जल्दी शिक्षित होकर कुछ बनने को प्रेरित किया, जो उचित नहीं था । पिता स्वयं कुशाग्र बुद्धिवाले थे, सर्वदा उच्च श्रेणी में उत्तीर्ण हुआ करते थे । अतः अपने पुत्र को भी एक सफल छात्र बनाने के लिये उन्होंने चार वर्ष की आयु से ही उस पर गणित के प्रश्न लाद दिये । जब वह तत्काल उन्हें हल नहीं कर पाता, तो उसके पिता अधीर होकर उसे खरी-खोटी सुनाते और यहाँ तक कि मारते भी थे, परन्तु सब निरर्थक सिद्ध हुआ । पिता जितना ही जोर लगाकर पढ़ाते, पुत्र को गणित से उतना ही वैराग्य हो जाता । वैसे बाद में गणित पढ़ाते समय पिता ने उसे मारना छोड़ दिया, तो भी वे उस पर फब्तियाँ कसकर लज्जित करते रहते थे ।

"क्रमशः बालक को विश्वास हो गया कि गणित सीखने की क्षमता उसमें नहीं है । अतः वह गणित से कन्नी काटने लगा । स्कूल में उसने स्वयं को अन्य छात्रों से पिछड़ा हुआ पाया, जिससे उसे बड़ा कष्ट हुआ । वह अपने को निम्न क्षमता का मानने लगा । "क्या पाठ सबकी समझ में आ गया?" – अध्यापक के इस प्रश्न के उत्तर में जब सब छात्र एक ध्वनि से 'हाँ' बोलते, तब उसे अपनी निर्बलता का बोध तो होता, परन्तु सबके साथ वह भी 'हाँ' कहने को बाध्य हो जाता । एक बार उसने अपने पिता को माता से कहते सुना, "अध्यापक ने बताया है कि लड़का गणित मे पिछड़ रह गया है । हम इसमें क्या कर सकते हैं? ... **(शेष पृष्ठ ८८ पर)**

केनोपनिषद् (२)

स्वामी विदेहात्मानन्द

(सनातन वैदिक धर्म के ज्ञानकाण्ड को उपनिषद् कहते हैं। सहस्रों वर्ष पूर्व भारत में जीव-जगत् तथा अन्य गम्भीर विषयों पर प्रश्न उठाकर उनकी जो मीमांसा की गयी थी, इनमें उन्हीं का संकलन है। श्री शंकराचार्य ने वैदिक धर्म की पुन: स्थापना हेतु इन पर सरस भाष्य लिखकर अपने सिद्धान्त प्रतिपादित किये थे। उनमें से ईशोपनिषद् के बाद अब हम केनोपनिषद् पर शांकर भाष्य का सरल हिन्दी अनुवाद क्रमश: प्रस्तुत कर रहे हैं। यहाँ पर भाष्य की अधिकांश कठिन सन्धियों को खोलकर सरल रूप देने का प्रयास किया है और उसमें आये मूल श्लोक के शब्दों को रेखांकित कर दिया है, ताकि नव-शिक्षार्थियों को समझने में सुविधा हो सके। – सं.)

एवं पृष्टवते योग्याय आह गुरुः - श्रृणु यत् त्वं पृच्छसि - मनआदि-करणजातस्य को देवः स्वविषयं प्रति प्रेरयिता कथं वा प्रेरयति इति ।

ऐसा पूछनेवाले योग्य शिष्य के प्रति गुरु ने कहा – जो तू पूछता है कि मन आदि इन्द्रियों के समुदाय को कौन-सा देव उनके विषयों के प्रति भेजता है और कैसे भेजता है, तो सुन –

श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो
यद् वाचो ह वाचः स उ प्राणस्य प्राणः।
चक्षुषश्चक्षुः अतिमुच्य धीराः
प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ।।२।।

अन्वयार्थ – **यत्** चूँकि **सः उ** वह **श्रोत्रस्य श्रोत्रम्** श्रोत्र का भी श्रोत्र है, **मनसः मनः** मन का भी मन है, **ह वाचः वाचम्** वाणी का भी वाणी है, **प्राणस्य प्राणः** प्राण का भी प्राण है (और) **चक्षुषः चक्षुः** नेत्रों का भी नेत्र है **धीराः** (अत:) विवेकी लोग **अतिमुच्य** (उनमें आत्माभाव को) त्यागकर **अस्मात् लोकात्** इस लोक से **प्रेत्य** प्रयाण करने के बाद **अमृताः भवन्ति** अमर हो जाते हैं।

भावार्थ – चूँकि वह कान का भी कान है, मन का भी मन है, वाणी का भी वाणी है, प्राण का भी प्राण है और नेत्रों का भी नेत्र है (अर्थात् इन सबके पीछे श्रोता, मन्ता, वक्ता, द्रष्टा आदि के रूप में एक चैतन्य तत्त्व है) अत: विवेकी लोग (शरीर-इन्द्रिय आदि में 'मैं-मेरा' भाव त्यागकर) इस लोक से प्रयाण करने के बाद अमृतत्व की प्राप्ति करते हैं।

शांकर भाष्य - श्रोत्रस्य श्रोत्रं शृणोति अनेन इति श्रोत्रम्, शब्दस्य श्रवणं प्रति करणं शब्द-अभिव्यञ्जकं श्रोत्रम् इन्द्रियम्, तस्य श्रोत्रं सः यः त्वया पृष्टः 'चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति' इति ।

जिसके द्वारा सुनते हैं, उसे श्रोत्र कहते हैं, यह शब्दों को सुनने का उपकरण है। शब्द को अभिव्यक्त करनेवाला श्रवणेन्द्रिय है और उसका भी श्रोत्र वह है, जिसके विषय में तुमने पूछा था कि 'नेत्र, कान आदि को कौन-सा देव नियुक्त करता है'।

असौ एवं-विशिष्टः श्रोत्रादीनि नियुङ्क्ते इति वक्तव्ये, ननु एतद्-अननुरूपं प्रतिवचनं श्रोत्रस्य श्रोत्रम् इति ।

शंका – आपको बताना चाहिए था कि ऐसे ऐसे गुणोंवाला (व्यक्ति) प्रेरित करता है। परन्तु श्रोत्र का श्रोत्र – यह तो आपने का प्रश्न का समुचित उत्तर नहीं दिया।

न एष दोषः, तस्य अन्यथा विशेष-अनवगमात्। यदि हि श्रोत्रादि-व्यापार-व्यतिरिक्तेन स्वव्यापारेण विशिष्टः श्रोत्रादि-नियोक्ता अवगम्येत दात्र-आदि-प्रयोक्तृवत्, तद्-इदम् अननुरूपं प्रतिवचनं स्यात्। न तु इह श्रोत्रादीनां प्रयोक्ता स्वव्यापार-विशिष्टो लवित्र-आदिवद् अधिगम्यते। श्रोत्रादीनाम् एव तु संहतानां व्यापारेण-आलोचन-सङ्कल्प-अध्यवसाय-लक्षणेन फलावसान-लिङ्गेन अवगम्यते - अस्ति हि श्रोत्रादिभिः असंहतः, यत्-प्रयोजन-प्रयुक्तः श्रोत्रादि-कलापः गृहादिवद् इति। संहतानां परार्थत्वाद् अवगम्यते श्रोत्रादीनां प्रयोक्ता। तस्माद् अनुरूपम् एव इदं प्रतिवचनं श्रोत्रस्य श्रोत्रम् इत्यादि।

समाधान – इसमें कोई दोष नहीं है, क्योंकि किसी अन्य प्रकार से उस (प्रेरक) के लक्षणों को जानना असम्भव है। (उल्टे) यदि हँसिये का उपयोग करनेवाले के समान श्रोत्र आदि को प्रेरित करनेवाला, श्रोत्र आदि की क्रियाओं से पृथक् अपनी स्वयं की क्रियाओं वाला समझा जाता, तब तो वह अयुक्तिसंगत हो जाता। परन्तु श्रोत्र आदि को प्रेरित करनेवाला, हँसिया चलानेवाले के समान, अपनी विशिष्य क्रियाओंवाला जानने में नहीं आता। यौगिक (मिश्रित) पदार्थों से बने श्रोत्र आदि (इन्द्रियाँ) अपने आलोचन (देखना आदि इन्द्रियों की वृत्तियाँ), संकल्प (द्वन्द्व आदि मन की वृत्तियाँ) तथा अध्यवसाय (निश्चय रूपी बुद्धि-वृत्ति) आदि क्रियाओं के द्वारा तथा फल में अवसान (लीन) होनेवाले चिह्न को देखकर ऐसा जानने में आता है कि श्रोत्र आदि से पृथक् कोई है, जिसके निमित्त श्रोत्र आदि का समूह क्रियाशील है, भवन आदि के समान (जैसे ईट, लोहा, आदि के समुदाय से बना हुआ मकान किसी अन्य के उपयोग के लिए ही होता है)। पदार्थों के योग से मिलकर बनी हुई वस्तु सर्वदा किसी अन्य के लिए ही होती है, इस (नियम) से भी ऐसा समझ में आता है कि श्रोत्र आदि का प्रेरक कोई अन्य

है । अतः 'श्रोत्र का श्रोत्र' आदि यह उत्तर उपयुक्त ही है ।

कः पुनः अत्र पदार्थः श्रोत्रस्य श्रोत्रम् इत्यादेः? न हि अत्र श्रोत्रस्य श्रोत्र अन्तरेण अर्थः यथा प्रकाशस्य प्रकाश अन्तरेण ।

शंका – फिर यहाँ 'श्रोत्र का श्रोत्र' आदि शब्दों का क्या तात्पर्य हो सकता है? क्योंकि जैसे एक प्रकाश का दूसरे प्रकाश से कोई उद्देश्य सिद्ध नहीं होता, वैसे ही एक श्रोत्र से दूसरे श्रोत्र का क्या लेना-देना है?

न एष दोषः । अयम् अत्र पदार्थः – श्रोत्रं तावत् स्व-विषय-व्यञ्जनसमर्थं दृष्टम् । तत् च स्वविषय-व्यञ्जन सामर्थ्यं श्रोत्रस्य चैतन्ये हि आत्मज्योतिषि नित्ये असंहते सर्वान्तरे सति भवति, न असति इति । अतः श्रोत्रस्य श्रोत्रम् इत्यादि-उपपद्यते । तथा च श्रुति-अन्तराणि – 'आत्मना एव अयं ज्योतिषा आस्ते'' (बृ. उ. ४/३/६) ''तस्य भासा सर्वम् इदं विभाति'' (क. उ. २/२/१५, श्वे. उ. ६/१४, मु. उ. २/२/१०) ''येन सूर्यः तपति तेजसा इद्धः'' (तै. ब्रा. ३/१२/९/७) इत्यादीनि । ''यद् आदित्यगतं तेजो जगद्भासयते अखिलम्'' (गीता, १५/१२) ''क्षेत्र क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत (गीता, १३/३३) इति च गीतासु । काठके च ''नित्यो अनित्यानां चेतनः चेतनानाम्'' (२/२/१३) इति । श्रोत्रादि-एव सर्वस्य आत्मभूतं चेतनम् इति प्रसिद्धम्; तद् इह निवर्त्यते । अस्ति किमपि विद्वद्-बुद्धिगम्यं सर्वान्तरतमं कूटस्थम् अजरम् अमृतम् अभयम् अजं श्रोत्रादेः अपि श्रोत्रादि तत्-सामर्थ्य-निमित्तम् इति प्रतिवचनं शब्दार्थः च उपपद्यते एव ।

समाधान – इसमें कोई दोष नहीं है । यहाँ (इन) शब्दों का अर्थ इस प्रकार है – श्रोत्र में अपने विषय (शब्द) को व्यक्त करने की सामर्थ्य देखने में आती है, परन्तु चैतन्य नित्य, निरवयव तथा सबके अन्तर्यामी आत्मज्योति की उपस्थिति के कारण ही श्रोत्र में अपने विषयों को प्रकाशित करने की क्षमता आती है, अन्यथा नहीं । अतः श्रोत्र का श्रोत्र आदि वाक्य सार्थक है । इसके अतिरिक्त (इसी अर्थवाली) अन्य श्रुतियाँ भी हैं – 'तब वह पुरुष आत्मा की ज्योति से स्थित रहता है', 'उस (आत्मा) के प्रकाश से ही यह सब कुछ प्रकाशित होता है', 'जिसके तेज से प्रदीप्त होकर सूर्य तपता है'। गीता में भी है – 'सूर्य का जो प्रकाश सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशित करता है (उसे तू मेरा ही समझ)', 'हे अर्जुन, उसी प्रकार एक ही आत्मचैतन्य सम्पूर्ण शरीर को प्रकाशित करता है' और कठोपनिषद् में भी है – 'अनित्य वस्तुओं में वह नित्य है, चेतनामय पदार्थों में वह चैतन्य (आत्मा) है । आम लोगों में जो यह प्रसिद्ध है कि श्रोत्र आदि ही सबके आत्मरूप तथा चैतन्य हैं, उसी का यहाँ निराकरण किया गया है । श्रोत्रादि का भी श्रोत्रादि अर्थात् उनके सामर्थ्य का कारणभूत कोई एक (ऐसा) तत्त्व है, जो तत्त्ववेत्ताओं की बुद्धि के लिए बोधगम्य है, सबका अन्तरात्मा, कूटस्थ (निष्क्रिय), अजन्मा, अजर, अमृत तथा अभय है । यह उत्तर तथा शब्दार्थ ही उचित है ।

तथा मनसः अन्तःकरणस्य मनः । न हि अन्तःकरणम् अन्तरेण चैतन्यज्योतिषा दीपितं स्वविषय-सङ्कल्प-अध्यवसाय-आदिसमर्थं स्यात् । तस्मान् मनसो अपि मन इति । इह बुद्धि-मनसी एकीकृत्य निर्देशो मनस इति ।

उसी प्रकार वह मन अर्थात् अन्तःकरण का मन है, क्योंकि चैतन्य-ज्योति की रश्मियों के बिना अन्तःकरण संकल्प (विचार), अध्यवसाय (निश्चय) आदि अपने कार्यों में समर्थ नहीं होता । इसी कारण वह मन का भी मन है । यहाँ 'मनसः' शब्द बुद्धि तथा मन का एक साथ ही द्योतक है ।

यद्-वाचो ह वाचम्; यत्-शब्दो यस्माद्-अर्थे श्रोत्र-आदिभिः सर्वैः सम्बध्यते – यस्मात् श्रोत्रस्य श्रोत्रम्, यस्मात् मनसो मन इति एवम् । वाचो ह वाचम् इति द्वितीया प्रथमात्वेन विपरिणम्यते, प्राणस्य प्राण इति दर्शनात् ।

यद् (चूँकि) वह 'वाणी का (भी) वाणी' है – यहाँ 'यद्' शब्द 'चूँकि' के अर्थ में श्रोत्र आदि सभी वाक्यांशों के साथ जुड़ जायेगा । यथा – चूँकि वह श्रोत्र का श्रोत्र है, चूँकि वह मन का मन है आदि । 'वाणी का वाणी' में 'वाचम्' शब्द की द्वितीया विभक्ति को प्रथमा (वाक्) में बदल लेना होगा, क्योंकि 'प्राण का प्राण' में ऐसा ही देखने में आता है ।

वाचो ह वाचम् इति एतद् अनुरोधेन प्राणस्य प्राणम् इति कस्माद् द्वितीया एव न क्रियते?

शंका – यहाँ 'वाणी का वाणी' (वाचम्) में द्वितीया विभक्ति के अनुसार 'प्राण का प्राण' में भी द्वितीया (प्राणम्) क्यों नहीं कर लेते?

न; बहूनाम् अनुरोधस्य युक्तत्वात् । वाचम् इति अस्य वाग् इति एतावद् वक्तव्यं स उ प्राणस्य प्राण इति शब्दद्वय-अनुरोधेन; एवं हि बहूनाम् अनुरोधो युक्तः कृतः स्यात् ।

समाधान – नहीं, क्योंकि बहुमत के अनुसार चलना ही उचित है । चूँकि 'स उ प्राणस्य प्राणः' में (सः तथा प्राणः) दो शब्दों (में प्रथमा विभक्ति होने) के कारण 'वाचम्' शब्द को भी 'वाक्' कहना ही उचित है; (क्योंकि) ऐसा करने से ही बहुमत को समुचित मर्यादा प्राप्त होगी ।

पृष्टं च वस्तु प्रथमया एव निर्देष्टुं युक्तम् । स यः त्वया पृष्टः प्राणस्य प्राण-आख्य-वृत्तिविशेषस्य प्राणः तत्कृतं हि प्राणस्य प्राणन-सामर्थ्यम् । न हि आत्मना अनधिष्ठितस्य प्राणनम् उपपद्यते, 'को हि एव अन्यात् कः प्राण्याद् यद् एष आकाश आनन्दो न स्यात्' (तै. उ. २/७/१) 'ऊर्ध्वं प्राणम् उन्नयति अपानं प्रति-अगस्यति' (क. उ. २/२/३) इत्यादि श्रुतिभ्यः । इह अपि च वक्ष्यते 'येन प्राणः प्रणीयते तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि' (केन. १/९) इति ।

इसके अलावा पूछी गयी वस्तु का उत्तर प्रथमा विभक्ति में ही देना उचित है। तुमने जो प्राण के विषय में पूछा था (कि वह किसके द्वारा नियुक्त होकर अपने कर्म में प्रवृत्त होता है?) वह प्राण का प्राण अर्थात् प्राण नामक (वृत्ति) क्रियाविशेष का प्राण है, उसी के कारण ही प्राण अपनी जीवन-धारण या श्वास-प्रश्वास रूप क्रिया में समर्थ होता है। क्योंकि आत्मा में आश्रित हुए बिना प्राण का क्रियाशील होना सम्भव नहीं है, जैसा कि इन श्रुतियों में बताया गया है – 'यदि इस (हृदय) आकाश में आनन्द (ब्रह्म) न होता, तो भला कौन जीवित रहता और कौन श्वास लेता'; 'वही प्राण को ऊपर की ओर ले जाता है और अपान को नीचे की ओर ढकेलता है'। इस केन उपनिषद् में भी कहा गया है – 'जिसके कारण घ्राणेन्द्रिय अपन विषय (गन्ध) को ग्रहण करती है, उसी को तुम ब्रह्म समझो'।

श्रोत्रादि-इन्द्रिय-प्रस्तावे घ्राणप्राणस्य ननु युक्तं ग्रहणम्।

शंका – यहाँ श्रोत्र (वाक्, चक्षु) आदि का प्रसंग चल रहा है, अत: 'प्राण' शब्द का (जीवनी-शक्ति नहीं, बल्कि) 'घ्राणेन्द्रिय' अर्थ लेना ही उचित होगा।

सत्यम् एवम् ; प्राण-ग्रहणेन एव तु घ्राण-प्राणस्य ग्रहणं कृतम् एवं मन्यते श्रुतिः । सर्वस्य एव करण-कलापस्य यदर्थ-प्रयुक्ता प्रवृत्तिः ; तद् ब्रह्म इति प्रकरणार्थो विवक्षितः । तथा चक्षुषः चक्षू रूप-प्रकाशकस्य चक्षुषो यद्-रूपग्रहण-सामर्थ्यं तद्-आत्मचैतन्य-अधिष्ठितस्य एव । अतः चक्षुषः चक्षुः ।

समाधान – ठीक है, परन्तु श्रुति का मानना है कि प्राण को ग्रहण करने से घ्राण का ग्रहण भी हो जाता है (क्योंकि प्राण ही समस्त इन्द्रियों का आधार है)। इस प्रकरण में श्रुति का तात्पर्य उस ब्रह्म से है, जिसके निमित्त समस्त इन्द्रियाँ तथा (मन आदि) अन्त:करण क्रियाशील होते हैं। उसी प्रकार रूप के प्रकाशक नेत्र का जो रूप ग्रहण की क्षमता है, वह उसके आत्म-चैतन्य में आश्रित होने के कारण ही है। इसलिए वह 'चक्षु का चक्षु' है।

प्रष्टुः पृष्टस्य अर्थस्य ज्ञातुम् इष्टत्वात् श्रोत्रादेः श्रोत्रादि-लक्षणं यथोक्तं ब्रह्म 'ज्ञात्वा' इति अध्याह्रियते; अमृता भवन्ति इति फलश्रुतेः च । ज्ञानाद् हि अमृतत्वं प्राप्यते । 'ज्ञात्वा अतिमुच्य' इति सामर्थ्यात् श्रोत्रादि-करण-कलापम् उज्झित्वा - श्रोत्रादौ हि आत्मभावं कृत्वा, तद्-उपाधिः सन्, तद्-आत्मना जायते म्रियते संसरति च । अतः श्रोत्रादेः श्रोत्रादि-लक्षणं ब्रह्म-आत्मा-इति विदित्वा, अतिमुच्य श्रोत्रादि-आत्मभावं परित्यज्य - ये श्रोत्र-आदि-आत्मभावं परित्यजन्ति, ते धीराः धीमन्तः ; न हि विशिष्ट-धीमत्त्वम् अन्तरेण श्रोत्रादि-आत्मभावः शक्यः परित्यक्तुम् - प्रेत्य व्यावृत्य अस्मात् लोकात् पुत्र-मित्र-कलत्र-बन्धुषु मम-अहं-भाव-संव्यवहार-लक्षणात्, त्यक्त-सर्वैषणा भूत्वा इत्यर्थः अमृता अमरण-धर्माणो भवन्ति ।

प्रश्नकर्ता द्वारा पूछी गयी वस्तु को जानना ही अभीष्ट होने के कारण 'श्रोत्रादि का श्रोत्रादि' रूप जो पूर्वोक्त ब्रह्म है, उसे 'जानकर' इतना ऊपर से जोड़ लेना होगा, (और इस कारण से भी कि) 'मुक्त हो जाता है' ऐसी फलश्रुति के कारण (क्योंकि) ज्ञान से ही अमृतत्व (मुक्ति) की प्राप्ति होती है। चूँकि ज्ञान में ही मुक्त करने की सामर्थ्य है, अत: वह श्रोत्र आदि इन्द्रियों का त्याग करके; (दूसरे शब्दों में चूँकि) मनुष्य श्रोत्र आदि में आत्मबुद्धि करके उनकी उपाधि से युक्त होकर इस तादात्म्य के द्वारा जन्म-मृत्यु तथा आवागमन को प्राप्त होते है; अत: 'श्रोत्रादि का श्रोत्रादि' रूप ब्रह्म को आत्मा के रूप में जानकर, अतिमुच्य अर्थात् श्रोत्र आदि में आत्मभाव को त्यागकर (वह मुक्त हो जाता है)। जो श्रोत्रादि में आत्मभाव को त्यागते हैं, वे धीर या धीमान् कहे जाते हैं। विशिष्ट बुद्धि के बिना श्रोत्रादि में आत्मभाव त्यागना सम्भव नहीं है। (ऐसे धीर लोग) इस लोक अर्थात् पुत्र, मित्र, पत्नी, बन्धु, नातेदारों आदि में 'मैं-मेरा' रूप लौकिक व्यवहार से परे जाकर अर्थात् समस्त एषणाओं का त्याग करके वे लोग अमृत अर्थात् अमर हो जाते हैं।

'न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेन एके अमृतत्वम् आनशुः' (कैवल्य उ. १/२), 'पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूः तस्मात् पराङ् पश्यति न अन्तरात्मन् । कश्चिद् धीरः प्रत्यग्-आत्मानम् ऐक्षद् आवृत्तचक्षुः अमृतत्वम् इच्छन्' (क. उ. २/१/१), 'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा ये अस्य हृदि श्रिताः ... अत्र ब्रह्म समश्नुते' (क. उ. २/३/१४) इत्यादि श्रुतिभ्यः । अथवा, अतिमुच्य इति अनेन एव एषणा-त्यागस्य सिद्धत्वात् अस्मात् लोकात् प्रेत्य अस्मात् शरीराद् अपेत्य मृत्वा इत्यर्थः ।। २ ।।

निम्नलिखित श्रुतियाँ भी यही कहती हैं – 'कर्म के द्वारा, पुत्रों के द्वारा या धन के द्वारा नहीं, (वरन्) कुछ लोगों ने त्याग के द्वारा (ही) अमृतत्व (मुक्ति) को प्राप्त किया था'; 'स्वयम्भू ब्रह्मा ने इन्द्रियों (उनकी मूलप्रवृत्ति) को बहिर्मुख करके मानो उन्हें मार डाला। इसीलिए वे बाहर की ओर ही देखती हैं, अन्तरात्मा को नहीं। पर अमृतत्व (मुक्ति) की इच्छा करते हुए किसी धीर व्यक्ति ने अन्तर्मुखी दृष्टि से युक्त होकर अन्तरात्मा को देखा'; 'जब इस (व्यक्ति) के हृदय में स्थित सारी कामनाएँ चली जाती हैं, ...तब इस (शरीर) में (ही) ब्रह्म की उपलब्धि होती है।' अथवा 'अतिमुच्य' (शब्द) का वासना-त्याग अर्थ लेने से 'प्रेत्य' का अर्थ होगा कि शरीर से अलग होकर अर्थात् मरने के बाद (मुक्त हो जाते है) ॥२॥ ❖ (क्रमशः) ❖

(पृष्ठ ८४ का शेषांश)

पहले तीन महीने के परीक्षाफल मे वह गणित में फेल हो गया। ऐसी अनेक घटनाओं तथा अपने अनुभव से उसे विश्वास हो गया था कि गणित में उसका कोई भविष्य नहीं है और वह मूढ़मति है। गणित के अध्यापक को देखते ही उसका दिल काँप उठता। परीक्षा में गणित का प्रश्नपत्र देखते ही उसे पसीना छूटने लगता। वह परीक्षा से तत्काल भागने की सोचता। अन्य सहपाठियों से उसने गणित के अभ्यास में सहायता माँगी, उन्होने आश्वासन भी दिया, परन्तु ठीक से समझाने का उनमें धैर्य न था। फिर उसने नकल करके अध्यापकों को धोखा देने का मार्ग अपनाया।

"सतत प्रयास के द्वारा अपने मन की गहराई में पैठी हुई आत्म-संशय की भावना पर विजय पाया जा सकता है। यदि कुछ अनुभवों ने किसी को गणित सीखने में अक्षम होने की भावना दी हो, तो उसके ठीक विपरीत अनुभव उसे दूर भी कर सकते हैं। स्कूल में प्रवेश पाने से पहले ही उस लड़के ने आत्मविश्वास खो दिया था। उसके आत्मविश्वास के क्रमश: पुनर्प्राप्ति के लिए उसे इस विषय में कुछ छोटी-मोटी सफलताएँ पाना आवश्यक था। बार बार मिलनेवाली असफलताओं के नकारात्मक प्रभाव को दूर करने का यही एकमात्र उपाय है। यह आसान कार्य नहीं है, तथापि यह निश्चय ही सम्भव है। इसके लिये अध्यापक में असीम धैर्य, प्रेम तथा लगन होनी चाहिए। छात्र को तभी साहस मिलेगा, जब उसे लगेगा कि शिक्षक विश्वसनीय है, वह मेरी असमर्थता की हँसी नहीं उड़ाएगा और क्रोध नहीं करेगा, बल्कि उसके स्थान पर वह मुझे धैर्य तथा समझदारी से पढ़ाएगा। क्या कोई छात्र अपने पैरो पर खड़ा होना नहीं चाहेगा? निश्चित ही वह ऐसा ही चाहेगा। पर उसके मन तथा अन्य लोगों ने उसे असहाय बना दिया। ये दोनों तत्त्व उसके विरुद्ध क्रियाशील रहे हैं। निरंजन ने मुझे उसे अकेले में ही पढ़ाने को क्यों कहा? शायद उसे आशंका थी कि कहीं मै दूसरे छात्रों से उसकी तुलना करते हुए उसकी के उसके कमियों के लिए उसका तिरस्कार न करूँ।"

हीनभावना से होनेवाली हानि के विषय में हममें से कितने लोग सजग है? जब पिछड़े हुए छात्र को निरन्तर डाँटा तथा अपमानित किया जाता है, तो वह अपनी तुलना दूसरों से करता है। यदि उसमें अपनी हीनता का भाव घर कर जाय, तो वह अनर्थकारी बन जाता है। यह कैसी उल्टी बात है कि जो माता-पिता बच्चों के शुभचिन्तक होते हैं, वे ही उन्हें अनजाने में क्षति पहुँचाते हैं। यही परम अज्ञान है। अपने छात्रों को घनिष्ठता से जानना कठिन माननेवाले अध्यापक इस समस्या का हल नहीं कर सकते। परन्तु ध्यान रहे – धैर्य तथा सच्चे परिश्रम के द्वारा यह निश्चित रूप से सम्भव है। ❖(क्रमशः)❖

विवेकिन् धन्यस्त्वम्

रवीन्द्रनाथ गुरु

नरेन्द्रो वीरेशो निखिलमतवादं परिहरन्
गतो ह्याशु श्रीमद्गुरुपरमहंसाङ्घ्रिशरणम्।
अहो शीघ्रं त्यक्त्वा गुरुकरुणया निःस्वपदवीं
विवेकानन्दोऽभूत्सकलजगतां वन्द्यचरितः॥

– अहो! वीरेश्वर नरेन्द्र समस्त मतवादों को छोड़कर शीघ्र ही श्रीरामकृष्ण परमहस के चरणों में शरणागत हुए। गुरुदेव की कृपा से अल्पायु में ही वे संसार के असार पदार्थों को त्यागकर सम्पूर्ण जगत् के वन्दनीय विवेकानन्द हो गये।

कृपालोकस्तम्भो दरकवलितानां हितकरो
नवप्राणानन्दाम्बुधर इह सद्बुद्धिरतुलः।
यदीयं वाग्वज्रं कलिकलुषसन्तापदलनं
विवेकानन्दऽसौ सकलजगतां वन्द्यचरितः॥

– जो दुर्दशाग्रस्त लोगों के लिए कृपारूप आलोक-स्तम्भ के समान हितकारी हैं; जो इस लोक में नवजीवन रूप आनन्द की वर्षा करनेवाले मेघ हैं, अतुल्य मेधावी हैं और जिनकी वज्रवत् वाणी कलि-कल्मषरूपी सन्ताप का नाश करने-वाली है, ऐसे विवेकानन्द का चरित्र सम्पूर्ण जगत् के लिए वन्दनीय है।

यते! चित्ताकर्षिश्रुतिसुखकरं ते मुखवचः
समुत्फुल्लं सत्पौरुषमहो विरागान्वितमनः।
अहो धन्यं प्रेमामृतमतुलनं वेदनमहो
विवेकिन् धन्यस्त्वं सकलजगतां वन्द्यचरितः॥

– हे यतिवर! आपके मुख से निःस्रित वाणी सुनने में मधुर है। अहो! आपका सुविकसित पौरुष तथा वैराग्ययुक्त मन सबके चित्त को आकृष्ट करता है। आपका प्रेम तथा संवेदनशीलता धन्य है। सम्पूर्ण जगत् के वन्द्य हे विवेकानन्द! आप धन्य हैं।

रामो विग्रहवान धर्मः

रामो रक्षति सज्जनान्न हि कदा रामं विना सद्गती
रामेणैव निवार्यते भव भयं रामाय भक्त्या नमः।
रामात् सम्भवति प्रशान्तिसरणी रामस्य नैवोपमा
रामे मे रमतां मनः प्रतिदिनं हे राम पाह्याश्रितम्।

– श्रीराम सज्जनों की रक्षा करते हैं; श्रीराम को छोड़ मनुष्य के लिए दूसरा कोई आश्रय नहीं है; श्रीराम के द्वारा ही जन्म-मरण के भय का निवारण होता है; ऐसे श्रीराम को भक्तिपूर्वक नमस्कार है। श्रीराम से परम शान्ति का मार्ग प्रादुर्भूत होता है; श्रीराम की कोई उपमा ही नहीं है; श्रीराम में मेरा मन प्रतिदिन रमण करता रहे; हे राम! मुझ शरणागत की रक्षा कीजिये।

जीवन का लक्ष्य

भैरवदत्त उपाध्याय

जीवन क्या है? इस प्रश्न के अनन्तर दूसरा प्रश्न यह उठता है कि उसका उद्देश्य क्या है, लक्ष्य क्या है? प्रत्येक मनुष्य जीवन की ऊँचाइयों को छू लेना चाहता है, अपनी अपेक्षाओं तथा जरूरतों की पूर्ति करना चाहता है, सुख तथा शान्तिपूर्वक जीवन बिताना चाहता है और अपनी महत्वाकाक्षाओं को पूरा करना चाहता है। अत: सबका लक्ष्य एक ही है, परन्तु उस लक्ष्य तक पहुँचने के लिए व्यक्ति जिन मार्गो एव साधनों का चयन करता है, उनमें भिन्नता है। उदाहरण के लिए व्यापारी व्यापार के द्वारा, कृषक खेती के द्वार और डाकू डाका डाल-कर अपने आर्थिक उद्देश्य की पूर्ति करता है। उद्देश्य सबका समान है, परन्तु साधन अलग अलग हैं। इनके स्वरूप के आधार पर ही समाज अपनी धारणाएँ बनाता है, घृणा या सम्मान की भावनाएँ व्यक्त करता है। इन साधनों के चुनाव में पवित्रता आवश्यक है। महात्मा गांधी ने कथा था कि साध्य की पवित्रता के साथ साधनों की पवित्रता भी आवश्यक है। हमारी सम्पूर्ण शक्ति साधन में लगनी चाहिए। साध्य के प्रति आकर्षण या आसक्ति न हो, क्योंकि जब साध्य के प्रति आकर्षण बढ़ जाता है, तब साधनों की पवित्रता का ध्यान नहीं रहता और हम भ्रष्ट तथा दूषित साधनों का उपयोग करके साध्य की प्राप्ति करना चाहते हैं। अत: साध्य तथा साधन की पवित्रता जीवन की साधना का अनिवार्य अग होना चाहिए। 'योऽर्थशुचि: स शुचि:' अर्थात् जिसके आर्थिक स्रोत पुनीत हैं, वह शुचि है, पवित्र है। 'सम्यक् आजीविका' हमारी जीवन-यात्रा का चरम ध्येय है।

'बृहदारण्यक उपनिषद्' की एक पुरातन कथा है — एक बार देव, मनुष्य तथा असुरों ने प्रजापति के यहाँ ब्रह्मचर्य-वास किया। तदनन्तर उन्होंने कहा, ''आप हमें उपदेश दीजिए।'' प्रजापति ने तीनों से केवल 'द' कहा और उन लोगों ने उसी एक अक्षर का अलग अलग अर्थ लगा लिया। देवताओं ने 'दम' अर्थात् इन्द्रिय-निग्रह, मनुष्यों ने 'दान' और असुरों ने 'दया' समझा। बाद में असुरों ने 'दया' को भुला दिया और परदमन या परपीड़न को ही जीवन का लक्ष्य बना लिया। जब तक वे दया पर चलते थे, तब तक उनका पतन नहीं हुआ। **पापाय परपीड़नम्** — दूसरों को कष्ट देना पाप है, यह जीवन का लक्ष्य नहीं हो सकता। इसका परित्याग अपेक्षित है।

प्राचीन ऋषियों ने जीवन के 'धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष' - ये चार लक्ष्य निर्धारित किये थे। इनमें धर्म का स्थान सर्वोपरि रखा, क्योंकि उसमें धरणा-शक्ति है, वह जीवन को धारण करता है। इसीलिए उसकी सज्ञा धर्म है - 'धारणाद् धर्म इत्याहु:'। महाराज मनु ने उसे धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, बुद्धि, विद्या, सत्य और अक्रोध रूप दशलक्षणक निरूपित किया है। सासारिक-यात्रा के लिए धन आवश्यक है। अत: यह हमारे जीवन का लक्ष्य तो है, किन्तु इसे प्रथम या अन्तिम स्थान प्राप्त नहीं है। धर्मार्जित धन ही पवित्र है, अत: वही ग्राह्य है। इसकी वृद्धि पर भी दान का अकुश रखा गया है।, ताकि अनियत सग्रह न हो सके। इसी प्रकार धर्मानुमोदित काम आदर्श है। धर्म से वह नियंत्रित होता है। इससे वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन में विकृतियाँ नहीं आ पातीं। निरपेक्ष सुख, शान्ति तथा आनन्द ही मोक्ष है। निरपेक्षता अर्थात् आत्मनिष्ठता जीवन की चरम परिणति है। सुख की विषय-निष्ठता (Objectivity) के मिथ्यात्व और उसकी विषयिनिष्ठता (Subjectiveness) की अनुभूति ही मोक्ष, निर्वाण, कैवल्य तथा मुक्ति है, जो जीवन का अन्तिम लक्ष्य है।

'Eat, drink and be merry' — 'खाओ, पीयो और मौज उड़ाओ', 'ऐश-आराम से जीयो', 'ऋण लेकर घी पीयो' आदि जीवन के भोगवादी उद्देश्य हैं। जब भोग जीवन का लक्ष्य बन जाता है, तब नैतिक मानदण्डों, वैयक्तिक तथा सामाजिक मूल्यों का संकट उपस्थित हो जाता है और संस्कृति-हीनता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। साधनों की पवित्रता की दृष्टि विनष्ट होती है और जीवन में असत्य, हिंसा, अविश्वास तथा अधर्म का समावेश होता है और फिर भोग जीवन का सर्वसम्मत लक्ष्य नहीं है।

देवत्व का आराधन अर्थात् अन्त:करण में प्रसुप्त देवता को जगाना और उनका साक्षात्कार करना ही जीवन का सर्वजनीन उद्देश्य है। जीवन में मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा करना देवार्चन है। श्रद्धा, विश्वास, आशा, सन्तुष्टि, करुणा, मुदिता, मैत्री आदि मानवीय गुण देवत्व का निधान हैं। देवपूजन किसी प्रकार की धार्मिक जड़ता, मानवीय उपेक्षा, हीनत्व-बोध तथा अति-मानवीय अनुभूति नहीं है। कविवर बलबीर सिंह 'रंग' के शब्दों में —

वह नहीं पूजन कि जो देवत्व में दासत्व भर दे,
सृष्टि के अवतंस मानव की प्रगति को मन्द कर दे।
भक्त को भगवान कर दे, मैं उसे पूजन कहूँगा॥

(शेष पृष्ठ ९२ पर)

ईसप की नीति-कथाएँ (२)

(ईसा के ६२० वर्ष पूर्व जन्मे ईसप के जीवन के विषय में ज्यादा जानकारी नहीं मिलती । कहते हैं कि वे पूर्व के किसी देश में जन्मे और यूनान में निवास करने वाले एक गुलाम थे । उनके नाम पर प्रचलित अनेक कथाओं पर बौद्ध जातकों तथा पंचतंत्र आदि में ग्रथित भारतीय कथाओ की स्पष्ट छाप दिखाई देती है । सुकरात तथा सिकन्दर के युग में भी अनेक भारतवासी उन देशों की यात्रा किया करते थे, इस कारण प्राचीन यूनान की कथाओ पर भारतीय प्रभाव होना कोई असम्भव बात नहीं है । इन कथाओं में व्यवहारिक जीवन के अनेक कटु या मधुर सत्यों का निदर्शन मिलता है, अत: ये आबाल-वृद्ध सभी के लिये रोचक तथा उपयोगी हैं । इनकी लोकप्रियता का यही रहस्य है । – सं.)

बाघ और पालतू कुत्ता

एक मोटे-ताजे पालतू कुत्ते के साथ एक भूखे दुबले-पतले बाघ की भेंट हुई । प्रथम परिचय हो जाने के बाद बाघ ने कुत्ते से कहा – भाई, एक बात पूछता हूँ, जरा बताओ तुम कैसे इतने सबल तथा मोटे-तगड़े हुए; तुम प्रतिदिन क्या खाते हो और कैसे उसकी प्राप्ति करते हो? मैं तो दिन-रात भोजन की खोज मे घूमकर भी भरपेट खा नहीं पाता । किसी किसी दिन तो मुझे उपवास भी करना पड़ जाता है । भोजन के इस कष्ट के कारण ही मैं इतना कमजोर हो गया हूँ ।

कुत्ते ने कहा – मैं जो कुछ करता हूँ, तुम भी यदि वैसा ही कर सको, तो तुम्हें मेरे जैसा ही भोजन मिल जाएगा ।

बाघ बोला – सचमुच? अच्छा भाई, तुम्हें क्या करना पड़ता है, जरा बताओ तो ।

कुत्ते ने कहा – कुछ नहीं, बस रात के समय मालिक के मकान की रखवाली करनी पड़ती है । बस इतना ही ।

बाघ बोला – इतना तो मैं भी कर सकता हूँ । मैं भोजन की तलाश में वन वन भटकता हुआ धूप तथा वर्षा से बड़ा कष्ट पाता हूँ । अब और यह क्लेश सहा नहीं जाता । यदि धूप और वर्षा के समय घर में रहने को मिले और भूख के समय भरपेट खाने को मिले, तब तो मेरे प्राण बच जायेंगे ।

बाघ के दु:ख की बातें सुनकर कुत्ते ने कहा – तो फिर मेरे साथ आओ । मैं मालिक से कहकर तुम्हारे लिये सारी व्यवस्था करवा देता हूँ ।

बाघ कुत्ते के साथ चल पड़ा । थोड़ी देर चलने के बाद बाघ को कुत्ते की गर्दन पर एक दाग दिखाई पड़ा । उसके विषय में जिज्ञासा उठने के कारण उसने व्यग्रतापूर्वक कुत्ते से पूछा – भाई, तुम्हारी गर्दन पर यह कैसा दाग है?

कुत्ता बोला – अरे, वह कुछ भी नहीं है ।

बाघ ने कहा – नहीं भाई, मुझे बताओ । मुझे जानने की बड़ी इच्छा हो रही है ।

कुत्ता बोला – मैं कहता हूँ न, वह कुछ नहीं है; लगता है पट्टे का दाग होगा ।

बाघ ने कहा – पट्टा क्यों?

कुत्ता बोला – पट्टे में जंजीर फँसाकर दिन के समय मुझे बाँधकर रखा जाता है ।

यह सुनकर बाघ विस्मित होकर कह उठा – जंजीर से बाँधकर रखा जाता है? तब तो तुम जब जहाँ जाने की इच्छा हो, जा नहीं सकते?

कुत्ता बोला – ऐसी बात नहीं है, दिन के समय भले ही बँधा रहता हूँ, लेकिन रात के समय जब मुझे छोड़ दिया जाता है, तब मैं जहाँ खुशी जा सकता हूँ । इसके अतिरिक्त मालिक के नौकर लोग मेरी कितनी देखभाल करते हैं, अच्छा खाना देते हैं, स्नान कराते हैं । और कभी कभी मालिक भी स्नेहपूर्वक मेरे शरीर पर हाथ फिरा दिया करते हैं । जरा सोचो तो, मैं कितने सुख में रहता हूँ ।

बाघ ने कहा – भाई, तुम्हारा सुख तुम्हीं को मुबारक हो, मुझे ऐसे सुख की जरूरत नहीं है । अत्यन्त पराधीन होकर राजसुख भोगने की अपेक्षा, स्वाधीन रहकर भूख का कष्ट उठाना हजारों गुना अच्छा है । मैं अब तुम्हारे साथ नहीं जाऊँगा ।

यह कहकर बाघ फिर जंगल में लौट गया ।

सिंह और चूहा

एक सिंह पर्वत की एक गुफा में सोया हुआ था । संयोगवश एक चूहा उधर से होकर गुजरते हुए सिंह के नथूने में प्रविष्ट हो गया । उसके नाक में घुसते ही सिंह की निद्रा भंग हो गई । चूहे के बाहर निकलने पर सिंह आगबबूला होकर अपने पंजे के प्रहार से उसे मार डालने को उद्यत हुआ । मृत्यु के भय से कातर होकर चूहे ने हाथ जोड़कर सविनय कहा – महाराज, अनजाने में मुझसे अपराध हो गया है, आप मुझे क्षमा करके प्राणदान कीजिये । आप समस्त पशुओं के राजा हैं; मेरे समान छोटे-से जीव का वध करने पर आपको कलंक लगेगा । यह सुनकर सिंह को हँसी आ गई और उसने दयापूर्वक चूहे को छोड़ दिया ।

इस घटना के कुछ दिनों बाद, सिंह शिकार के लिये इधर-उधर भ्रमण करता हुआ एक शिकारी के जाल में फँस गया । बहुत प्रयास करने पर भी वह स्वयं को उस बन्धन से मुक्त नहीं कर सका । अन्त में अपने जीवन के बारे में पूर्णत: निराश होकर वह इतनी भयंकर गर्जना करने लगा कि पूरा जंगल काँप उठा ।

सिंह ने पहले जिस चूहे को प्राणदान किया था, वह उस स्थान के समीप ही निवास करता था। अपने प्राणदाता की आवाज सुनकर वह तत्काल वहाँ आ पहुँचा। सिंह पर आये हुए इस संकट को देखकर उसने अविलम्ब जाल काटना आरम्भ कर दिया और थोड़ी ही देर में उसे बन्धन से मुक्त कर डाला। कहा भी है –

रहिमन देख बड़ेन को, लघु न दीजिये डार।
जहाँ काम आवै सुई, कहा करै तलवार॥

किसी के ऊपर भी दया करना निष्फल नहीं जाता। चाहे जितना भी छोटा जीव क्यों न हो, उपकार किये जाने पर, कभी-न-कभी वह उसका बदला चुका सकता है।

चरवाहा और बाघ

एक चरवाहा किसी वन में गायें चराया करता था। चरगाह के निकट के वन में बाघ का निवास था। चरवाहा खेल खेल में ही कभी कभी – बाघ आया, बाघ आया – कहकर उच्च स्वर में चिल्लाया करता था।

आसपास के लोग बाघ आने की बात सुनकर बड़ी व्यग्रता के साथ अपने हथियारों से लैश होकर उसकी सहायता करने को वहाँ आ जाते। चरवाहा उन्हें देख खिलखिलाकर हँस पड़ता। आए हुए लोग अपना-सा मुँह लेकर लौट जाते।

आखिरकार एक दिन सचमुच ही बाघ ने आकर उसकी गायों पर आक्रमण कर दिया। तब चरवाहे ने अत्यन्त व्याकुल होकर – बाघ आया, बाघ आया – कहकर जोर जोर से चिल्लाने लगा। परन्तु उस दिन उसकी सहायता करने को कोई भी नहीं आया। सबने सोचा – दुष्ट चरवाहा पहले के समान ही हम लोगों के साथ हँसी-मजाक कर रहा है।

बाघ ने अपनी इच्छानुसार गायों को मार डाला और अन्त में चरवाहे का भी वध करके चल दिया। मूर्ख चरवाहा मरते समय बड़बड़ा रहा था – सर्वदा झूठ बोलने वाले के सत्य पर भी कोई विश्वास नहीं करता।

सियार और किसान

शिकारी तथा उनके कुत्तों द्वारा पीछा किये जाने पर एक सियार बड़ी तेजी से दौड़ता हुआ एक किसान के पास पहुँचकर बोला – भाई, यदि तुम कृपा करके शरण दे दो, तभी मेरी जान बच सकेगी।

किसान ने कहा – तुम्हें डरने की जरूरत नहीं, मेरी कुटिया में छिप जाओ। यह कहकर उसने अपनी कुटिया की ओर इशारा कर दिया। सियार कुटिया में घुसकर एक कोने में छिप गया।

थोड़ी देर बाद ही शिकारियों ने भी वहाँ आकर किसान से पूछा – अरे भाई, एक सियार इधर आया था। बता सकते हो कि किस ओर गया? किसान ने मौन रहकर ही उँगली से कुटिया की ओर संकेत किया। वे लोग किसान का इशारा न समझकर लौट गये।

शिकारियों के चले जाने के बाद सियार भी कुटिया से बाहर निकला और चुपचाप जाने लगा। इस पर किसान उसे डाँटते हुए बोला – भाई, तुम तो बड़े अशिष्ट हो! मैंने संकट के समय आश्रय देकर तुम्हारी जान बचायी। और तुम हो कि बिना मुझे बताये हुए ही चले जा रहे हो। सियार बोला – अरे भाई, तुमने बातों में जैसी शिष्टता दिखाई वैसा ही यदि उँगली से भी दिखाते तो मैं भी तुमसे विदा लिये बिना कदापि तुम्हारी कुटिया छोड़कर नहीं जाता।

कौआ और पानी का घड़ा

एक प्यासा कौआ दूर से पानी का एक घड़ा देखकर बड़ा प्रसन्न हुआ। वह घड़े के पास जा पहुँचा और व्यग्रता के साथ उसने घड़े के भीतर अपनी चोंच घुसा दिया। परन्तु घड़े में थोड़ा-सा ही पानी था, अतः कितना भी प्रयास करने पर उसकी चोंच पानी तक नहीं पहुँच सकी।

इस पर पहले तो उसने घड़े को ही तोड़ डालने का प्रयास किया, इसके बाद उसने पानी पीने के लिये घड़े को पलटने का प्रयास किया; परन्तु बल के अभाव में उसकी कोई भी चेष्टा सफल नहीं हुई।

आखिरकार उसने पास में ही कुछ कंकड़ पड़े हुए देखा। उसने एक एक कर कंकड़ के टुकड़ों को उठाकर घड़े में डाल दिया। घड़े का तला कंकड़ों से भर जाने पर उसका जलस्तर ऊपर आ गया। अब कौए ने छककर जलपान किया और अपनी प्यास मिटाई।

बाहुबल से जो कार्य नहीं होता, उसे बुद्धिबल से सम्पन्न किया जा सकता है।

पेट और अन्य अंग

एक बार हाथ, पैर आदि अंगों ने आपस में मिलकर चर्चा करने लगे – देखो भाई, हम सभी अपने अपने नियत कर्तव्य के अनुसार परिश्रम करते हैं; परन्तु पेट कोई भी परिश्रम नहीं करता। हम लोग प्राणपण से परिश्रम करके उसकी सेवा करते हैं, और वह सर्वदा निश्चिन्त बैठा रहता है। वह इसी तरह आलस्य में समय बिताएगा, तो फिर हम लोग उसकी सेवा क्यों करें! इसलिये आइए हम सब मिलकर प्रतिज्ञा करें कि आज से हम पेट की सहायता नहीं करेंगे।

ऐसा निर्णय लेने के बाद उन लोगों ने परिश्रम करना छोड़ दिया। पाँव ने भोजनालय में जाना बन्द कर दिया; हाथ ने मुँह तक भोजन पहुँचाना बन्द कर दिया; मुख ने भी आहार ग्रहण करना बन्द कर दिया और दाँतों ने भी भोजन को चबाने से इंकार कर दिया। पेट को सबक सिखाने के प्रयास में उन लोगो ने दो-चार दिन ऐसे ही किया। इसके फलस्वरूप शरीर सूखने लगा और उसके सारे अंग इतने निस्तेज हो गये कि उसमे हिलने-डुलने तक की शक्ति नहीं रही।

इससे वे लोग समझ गये कि पेट भले ही परिश्रम न करता हो, पर वही प्रधान अंग है; पेट की सेवा हेतु परिश्रम न करने पर सभी को दुर्बल तथा निस्तेज हो जाना पड़ेगा। ऐसी बात नही है कि परिश्रम के द्वारा हम केवल पेट की ही सहायता करते हैं। पेट को जैसे अन्य अंगों की आवश्यकता पड़ती है, वैसे ही अन्य अंगों के लिये भी पेट की सहायता लेना आवश्यक है। यदि स्वस्थ रहना हो तो सभी अंगों को अपना अपना नियत कर्म करना होगा, अन्यथा किसी का भी भला नहीं होगा।

काना हिरण

एक काना हिरण सर्वदा नदी के तट पर चरता हुआ घुमा करता था। नदी की ओर से शिकारियों के आने की सम्भावना नहीं है – ऐसा सोचते हुए उस ओर से निश्चिन्त होकर वह स्थल की ओर से शिकारियों के आने की आशंका से उधर ही दृष्टि लगाये रखता था।

संयोगवश एक दिन एक शिकारी नाव में सवार होकर उधर से गुजर रहा था। उसने दूर से ही हिरण को चरते देखकर उस पर बाण चला दिया।

प्राण त्यागते समय हिरण मन-ही-मन सोच रहा था – जिधर से विपत्ति की आशंका करके मैं सदा सतर्क रहा करता था, उधर से तो कोई विपत्ति नहीं आई; परन्तु जिधर से संकट की कोई सम्भावना नहीं है, ऐसा सोचकर मैं निश्चिन्त था, उसी ओर से शत्रु ने आकर मुझे मार डाला।

❖ (क्रमशः) ❖

(पृष्ठ ८९ का शेषांश)

देवत्व की आराधना का अर्थ है - निष्ठा तथा संकल्प के साथ उदात्त गुणों के अनुसार आचरण। आचार जीवन का वह व्यावहारिक पक्ष है, जिस पर जीवन की सफलता आश्रित है। आचार एक प्रक्रिया है, जो विधि-निषेधों की लीक पर लक्ष्य तक फैली होती है। आचार-प्रक्रिया के इस पथ पर जीवन-रथ का सतत गतिशील रहना ही जीवन की पहचान है।

जीवन एक कला है और कला कला के लिए नहीं, जीवन के लिए है। ठीक इसी तरह जीवन जीवन के लिए नहीं है, वह कर्म के लिए है, कला के लिए है, सुन्दर सृजन के लिए है और सामाजिक और वैयक्तिक दायित्वों के निर्वाह हेतु है। कर्म-सन्यास जीवन का लक्ष्य नहीं है और फिर कर्मों का त्याग सन्यास कब कहलाता है? काम्य कर्मों का ही संन्यास अपेक्षित है। सच्चा सन्यास वही है – "काम्यानां कर्मणां न्यास सन्यास कवयो विदुः" (गीता, १८/२) भगवदर्पित अर्थात् समाजार्पित कर्म यज्ञ है। यह प्राणशक्ति का स्रोत है। देवों ने इसी से प्राण शक्ति प्राप्त कर असुरों पर विजय प्राप्त की थी। समाजघाती असुरों का वध समाजार्पित कर्म था। जिसका सम्पादन जनार्दन ने किया था और जन प्रसन्न हो गये थे। इसीलिए वे जनार्दन कहलाए थे – "जनान् अर्दयति प्रसादयति इति जनार्दनः"। यह यज्ञ था। प्रकृति इसी यज्ञ में सलग्न है। पर्वत, निर्झर, सरिताएँ, वनस्पतियाँ, ग्रह, नक्षत्र और वायु आदि प्राकृतिक उपादान दिन-रात इस यज्ञ के अनुष्ठान में रत हैं। यही यज्ञ हमारे जीवन का भी लक्ष्य है। श्रेय और प्रेय जैसे महत्तम लक्ष्य भी इसी में संश्लिष्ट हैं। वे इस यज्ञ के आनुषंगिक फल हैं। यदि हम अपने जीवन को यज्ञमय बना लेते हैं, तो हम सही अर्थों में जीवन जी रहे होंगे। अन्यथा उच्छ्वास लेते हुए पशु-पक्षियों की भाँति कौन नहीं जीता – 'उच्छ्वसन् को नु जीवति'। ❖

ध्यान से मनःसंयम

ध्यान के द्वारा मन की वृत्तिरूपी लहरें दब जाती हैं। यदि तुम दिन पर दिन, मास पर मास, वर्ष पर वर्ष, इस ध्यान का अभ्यास करो - जब तक कि वह तुम्हारे स्वभाव में भिद न जाय, जब तक कि तुम्हारे इच्छा न करने पर भी वह ध्यान अपने आप आने लगे - तो क्रोध, घृणा आदि वृत्तियाँ संयत हो जाएँगी।

– स्वामी विवेकानन्द

रामकृष्ण मिशन का वार्षिक प्रतिवेदन - १९८९-९९

रामकृष्ण मिशन की ९० वीं वार्षिक साधारण सभा बेलूड़ मठ में १९ दिसम्बर १९९९ को आयोजित की गयी थी।

इस वर्ष की महत्वपूर्ण घटनाओं में भारत सरकार की ओर से राष्ट्रपति के. आर. नारायणन द्वारा रामकृष्ण मिशन को गांधी शान्ति पुरस्कार प्रदान किया जाना विशेष रूप से उल्लेखनीय है। एक करोड़ रुपये की पुरस्कार-राशि संग्रह-निधि के रूप में रखी गयी है तथा इससे प्राप्त आय का सदुपयोग निर्धन तथा जरूरतमन्द लोगों के लिए किया जायेगा। इस वर्ष के दौरान हमारे इलाहाबाद, करीमगंज, नई दिल्ली और राँची के टी.बी. सेनिटोरियम तथा मोराबादी केन्द्रों में चल-चिकित्सा की इकाइयाँ आरम्भ की गयीं। भारत के प्रधानमंत्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी के हाथों अन्दमान के पोर्ट ब्लेयर में स्थित शैक्षणिक केन्द्र का उद्घाटन सम्पन्न हुआ।

हमें यह भी सूचित करते हुए बड़ा हर्ष हो रहा है कि स्वामी विवेकानन्द के जन्मस्थान तथा उनकी पैतृक-सम्पत्ति के अधिग्रहण के हमारे प्रयासों में काफी प्रगति हुई है। उसके अधिवासियों को वैकल्पिक आवास अथवा वित्तीय मुआवजा देकर अब जमीन को पूरी तौर से खाली कराया जा चुका है। जीर्णोद्धार-कार्य बड़े पैमाने पर आरम्भ हो गया है। इस महत्वपूर्ण परियोजना के लिए पर्याप्त वित्तीय तथा अन्य प्रकार से सहायता करने के लिए हम राज्य तथा केन्द्र सरकारों के प्रति विशेष रूप से आभारी हैं।

इस वर्ष के दौरान लगभग ३.९६ करोड़ रुपये खर्च करके मिशन ने देश के विभिन्न भागों और साथ ही बाँगलादेश में भी बृहत् पैमाने पर राहत तथा पुनर्वास के कार्य किये हैं, जिससे लगभग ५ लाख लोग लाभान्वित हुए। आन्ध्रप्रदेश में सेतु-निर्माण के कार्य में और भी प्रगति हुई।

निर्धन विद्यार्थियों को छात्रवृत्ति और वृद्ध, बीमार तथा असहाय लोगों को आर्थिक सहायता आदि के द्वारा सम्पन्न कल्याण-कार्यों में १.८४ करोड़ रुपये व्यय हुए।

नौ अस्पतालों तथा अनेक चल-चिकित्सा इकाइयों सहित १०४ चिकित्सा केन्द्रों में करीब ५० लाख लोगों को स्वास्थ्य सम्बन्धी सेवा प्रदान की गयी और इस मद में लगभग १९ करोड़ ४८ लाख रुपये खर्च हुए।

हमारे शिक्षालयों में, बाल-विहार से लेकर स्नातकोत्तर तक के प्रायः ३९ हजार छात्राओं सहित लगभग १.२५ लाख विद्यार्थियों को शिक्षा दी गयी। इस मद में ५६ करोड़ ८ लाख रुपये व्यय हुए।

८ करोड़ ६७ लाख रुपयों की लागत से कई ग्रामीण तथा आदिवासी-विकास की योजनाओं का भी रूपायन किया गया।

इस अवसर पर अपने सदस्यों तथा मित्रों के हार्दिक तथा निरन्तर सहयोग के लिए हम उनके प्रति आन्तरिक धन्यवाद तथा कृतज्ञता व्यक्त करते हैं।

स्वामी स्मरणानन्द

१९ दिसम्बर, १९९९ ई. **महासचिव**

उड़ीसा के तूफान में राहत-कार्य

(क) भुवनेश्वर के रामकृष्ण मिशन आश्रम के सहयोग से जगतसिंहपुर, केन्द्रपारा तथा खूर्द जिलों के कुछ सर्वाधिक प्रभावित क्षेत्रों में बृहत् स्तर पर प्राथमिक राहत-कार्य चलाया जा रहा है। ७ नवम्बर १९९९ को पारादीप में भोजन के ४०० पैकेट तथा ३००० लीटर पेय जल का वितरण करने के बाद; पूर्वोक्त जिलों के इरसमा, कुजंगा, केन्द्रपारा, मोहनपुर तथा भुवनेश्वर विकास-खण्डों के ६७ गाँवों के ५,००० परिवारों के बीच १,३३,८७४ किलो चावल, २६,७७४ किलो दाल, ३२,६९८ किलो चिउड़ा और ५,३७० किलो चीनी का वितरण किया गया। इसके अतिरिक्त कलकत्ता के रामकृष्ण मिशन सेवा-प्रतिष्ठान के सहयोग से ९ से २० नवम्बर के दौरान २० गाँवों के ४,६४४ रोगियों की चिकित्सकीय सेवा की गयी। इसके अनन्तर पीड़ितों के बीच तत्काल वितरण हेतु वहाँ बहुत बड़ी मात्रा में कपड़े तथा बर्तन भी भेजे गये हैं।

(ख) पुरी के रामकृष्ण मिशन आश्रम के माध्यम से पुरी जिले के ककतपुर, अस्तरंग, गोप तथा सदर विकास-खण्डों के ६,७६९ परिवारों में तूफान-राहत का कार्य सम्पन्न किया गया। पीड़ित परिवारों के बीच ५,७२० किलो चिउड़ा; ८०० किलो गुड़; १५,५६० किलो चावल; ६,४२० किलो दाल; २,१८० किलो नमक; ३,०२८ साड़ियाँ; २,३५८ धोतियाँ; १,७६९ चादरें; १,०१३ लुंगियाँ; ८५१ तौलिए; १,३७४ गमछे; १,२०३ कम्बल और बड़ी संख्या में अन्य कपड़े भी वितरित किये गये। इसके अतिरिक्त तूफान से पीड़ित रोगियों की चिकित्सा भी की गयी।

(ग) पुरी के रामकृष्ण मठ ने पुरी जिले के निर्धन तूफान-पीड़ितों के लिए एक रसोईघर आरम्भ किया है, जहाँ ककतपुर तथा अस्तरंग विकास-खण्डों के २००० लोगों को प्रतिदिन चावल तथा दालमा का वितरण किया जा रहा है।